पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल

ISSN 2231-1351

PADCHINHA

पदचिन्ह

जनवरी 2017 वर्ष 5 अंक 11

UGC Approved Journal No. 49359

Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 2231-1351

Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

पदचिन्ह

PADCHINHA

जनवरी, 2017 वर्ष 5 अंक 11

संपादक

अजय परमार

B-30/239 नगवां, लंका, वाराणसी-221005

padchinhahindi@gmail.com

सह-संपादक

पंकज कुमार सिंह

पचपोखरी, रोहतास (सासाराम)

पिन- 802217 मो. 9823696685

gandhikhadi@gmail.com

© पदचिन्ह में व्यक्त विचार और सर्वाधिकार लेखकों के अपने हैं। प्रकाशित विचारों से संपादक व संपादक-मंडल की सहमति अनिवार्य नहीं है। उक्त सभी पद अवैतनिक हैं। किसी भी वाद-विवाद का न्याय क्षेत्र वाराणसी होगा।

पीअर रिव्यूड एंड रेफेरीड जर्नल R.N.I. UPHIN/2011/37086

ISSN 2231-1351 UGC Approved Journal No. 49359

संपादक-मंडल/ रेफेरीड बोर्ड

प्रो. प्रेमनारायण सिंह
शिक्षाशास्त्र विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ. प्र.) पिन-221002

डॉ. अमरेन्द्र त्रिपाठी
अध्यक्ष, हिंदी विभाग
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय
मोतिहारी, बिहार. पिन-845401

प्रो. नृपेन्द्र प्रसाद मोदी
अध्यक्ष, गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. परिमल प्रियदर्शी
अनुसंधान अधिकारी, शोध सहायता प्रकोष्ठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. मनोज कुमार राय
गांधी एवं शांति अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. धीरेन्द्र कुमार राय
पत्रकारिता एवं जनसंप्रेषण विभाग
काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

डॉ. गोविन्द प्रसाद वर्मा
सहायक प्रोफेसर, मानविकी और भाषा संकाय
महात्मा गाँधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी
बिहार पिन-845401

आशीष कुमार
संपादक, सृजन समय
बहुद्देशीय सामाजिक संस्था, वर्धा - 442001

श्रीकांत जायसवाल
प्रवासन एवं डायस्पोरा अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. उमेश कुमार सिंह
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

डॉ. रणजीत कुमार
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

प्रदीप त्रिपाठी
हिंदी विभाग एवं तुलनात्मक साहित्य
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

सलाहकार समिति

डॉ. राजीव रंजन गिरि
हिंदी विभाग, राजधानी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110015

डॉ. निशीथ राय
मानवविज्ञान विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा (महाराष्ट्र). पिन-442001

पदचिन्ह के लिए प्रकाशक अजय परमार, बी.- 30/239, नगवां, लंका वाराणसी द्वारा प्रकाशित और सूर्या आफसेट, 30, विवेकानंद कालोनी, मलदहिया, वाराणसी में मुद्रित। संपादक : अजय परमार

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 2231-1351

पदचिन्ह जनवरी, 2017 वर्ष 5 अंक 11

अनुक्रम

पृष्ठ सं.

संपादकीय: नववर्ष, नई दिशाएँ

1. सूर का जीवन-वृत्त _**डॉ. किरण कुमारी** 05-10
2. झारखंड के आदिवासी और महाजनी शोषण की समस्या _**डॉ. अभिषेक कुमार यादव** 11-15
3. चिकित्सकीयकरण का गांधीय उपचार _**गजानन एस. निलामे** 16-30
4. नयी कविता में मानव जीवन के विविध पक्ष और आधुनिक जीवन बोध 31-42
   _**डॉ. महेश चन्द गुप्ता**
5. अप्रमा के रूप में तर्क _**डॉ. इन्द्रजीत प्रसाद सिंह** 43-45
6. Utilizing Artificial Intelligence (AI) to Enhance Consumer Behavior Insights and Streamline Third-Party Product Services in Payment Banking 46-51
   _Kuldeep Kumar Kamboj _Dr. Rajeev Shukla
7. नासिरा शर्मा के उपन्यासों में नारी चेतना _**पंकज कुमार मिश्र** 52-57
8. राजस्थानी चित्रकला शैली : एक ऐतिहासिक एवं कलात्मक अध्ययन 58-70
   _**जगदीश चन्द्र धाकड़**
9. महात्मा गांधी और राष्ट्रभाषा हिंदी : हिंदुस्तानी भाषा, लिपि, और राष्ट्रनिर्माण की अवधारणा का भाषिक दृष्टिकोण से विश्लेषण _**डॉ. अम्ब्रीश त्रिपाठी** 71-78
10. सतत विकास के लिए भारतीय संस्कृति अनिवार्य _**डॉ. निमिषा त्रिपाठी** 79-82
11. 'शरणदाता' : त्रासदी की विभीषिका के मध्य संवेदना के मूल्य _**डॉ. नियति कल्प** 83-87
12. रामानुजाचार्य के मोक्ष की अवधारणा _**डॉ. इन्द्रजीत प्रसाद सिंह** 88-91
13. गीता में ज्ञानयोग _**डॉ. निवेदिता कुमारी** 92-96
14. ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य : समस्याएँ, चुनौतियाँ एवं समाधान _**डॉ. अल्पना सिंह** 97-100
15. हिंदी साहित्य में कामकाजी औरत _**डॉ. महादेवी कणवी** 101-105
16. Ethnobotanical Profiling and Nutraceutical Potential of Indigenous Green Foliage Resources among Tribal Communities of Jharkhand, India 106-115
    _Ladly Rani

UGC Approved List of Journals

संपादकीय: नववर्ष, नई दिशाएँ

नववर्ष 2017 के साथ हम एक नए अध्याय में प्रवेश कर रहे हैं। यह केवल कैलेंडर में बदली हुई तिथि नहीं, बल्कि हमारे विचारों, लक्ष्यों और संकल्पों को नई दिशा देने का भी अवसर है। 'पदचिन्ह शोध पत्रिका' ने ज्ञान और अनुसंधान की यात्रा में एक और वर्ष जोड़ा है, और हमें गर्व है कि हमारे पाठकों और विद्वानों ने इसे निरंतर अपनी स्नेहपूर्ण स्वीकृति प्रदान की है।

वर्तमान समय में शोध और बौद्धिक विमर्श की प्रासंगिकता पहले से कहीं अधिक बढ़ गई है। आज जब समाज तीव्र गति से परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने इतिहास, परंपरा और आधुनिकता के संतुलन को बनाए रखते हुए आगे बढ़ें। शोध केवल अतीत की पड़ताल नहीं, बल्कि भविष्य की नींव रखने का माध्यम भी है।

इस अंक में हम विभिन्न विषयों पर शोधकर्ताओं के गंभीर प्रयासों को स्थान दे रहे हैं, जिनमें साहित्य, समाजशास्त्र, विज्ञान और इतिहास से जुड़े लेख शामिल हैं। हमें विश्वास है कि ये आलेख न केवल अकादमिक जगत के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे, बल्कि आम पाठकों के लिए भी नई दृष्टि प्रदान करेंगे।

नववर्ष का यह पहला अंक हमारे लिए आत्ममंथन और नवाचार का प्रतीक है। हम अपने लेखकों, समीक्षकों और पाठकों से निरंतर सहयोग और सुझावों की अपेक्षा रखते हैं ताकि 'पदचिन्ह शोध पत्रिका' अपने उद्देश्य और गुणवत्ता के प्रति सदैव प्रतिबद्ध रह सके।

आप सभी को नववर्ष की हार्दिक शुभकामनाएँ! आशा है कि यह वर्ष आपके लिए नई संभावनाएँ और सफलताओं से परिपूर्ण होगा।

सादर,

संपादक

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

सूर का जीवन-वृत्त

डॉ. किरण कुमारी*

kirankumari6163@gmail.com

सारांश :-

अष्टछाप के अंतर्गत भक्त और कवि के रूप में सूरदास का स्थान सर्वोपरि है। उन्हें वल्लभाचार्य 'भक्ति का समुद्र' और गोस्वामी विट्ठलनाथ 'पुष्टि मार्ग का जहाज' कहा करते थे। इसीलिए उनकी रचना सूरसागर कहलायी, किन्तु खेद का विषय है कि अपने अन्तःकरण से सहस्रों हृदयों का तिमिरनाश करने वाले इन भक्त कवियों का जीवन-वृत्त आज भी अन्धकारमय है। उनका पूर्ण प्रामाणिक और निर्विवाद जीवन-वृत्त अब भी प्रकाश में नहीं आ सका है। इसका प्रमुख कारण यह है कि ये भक्त कवि आत्म-कथा लिखना उचित नहीं मानते थे और उस समय तक आधुनिक ढंग का इतिहास या जीवनी लिखने की परम्परा भी नहीं थी। अतएव अन्तःसाक्ष्य अथवा बहिर्साक्ष्य के आधार पर इनके सम्बन्ध में कुछ सूत्र ही हाथ लगते हैं। पूरी जीवनी के लिए अनुमान और किंवदन्तियों का सहारा लेना पड़ता है।

बीज शब्द :-जीवन-वृत्त, अन्तःसाक्ष्य, बहिर्साक्ष्य, आत्मनिवेदन, कूट पद, साहित्य लहरी, सूरसागर, ढाढ़ी।

भारतीय मनीषियों की यह आर्ष परम्परा रही है कि वे दर्शन में विश्वास करते थे, प्रदर्शन में नहीं। वे विनयी थे, तत्त्वदर्शी थे, विद्या-व्यसनी थे परन्तु यशोलिप्सा एवं स्वविज्ञापन से सदैव दूर रहते थे। ज्ञान के गहन रहस्यों की खोजकर उन्होंने उत्तम-से-उत्तम ग्रन्थों की रचना की, परन्तु अपने बारे में-विज्ञप्ति की बात उन्हें कतई नहीं सूझी। फलतः उनका प्रामाणिक जीवन-वृत्त आज उपलब्ध नहीं होता। यही बात महाकवि सूरदास के विषय में भी चरितार्थ होती है।

जीवन-वृत्त जानने के दो साधन होते हैं- अन्तःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य। सूर के जीवन-वृत्त को जानने के लिए भी ये ही दो आधार हैं। अन्तःसाक्ष्य में सूर के आत्मनिवेदन सम्बन्धी पद और उनके कूट पद हैं। बहिर्साक्ष्य में कतिपय किम्वदन्तियाँ हैं तथा समकालीन लेखकों एवं इतिहासकारों की रचनाएँ हैं। इसमें भी वार्ता-साहित्य विशेष उल्लेखनीय है। अभी तक का उपलब्ध बहिर्साक्ष्य निम्नलिखित हैं-

1. चौरासी वैष्णवन की वार्ता।
2. हरिराय की 'भाव-प्रकाश' सहित वार्ता।
3. अन्य वार्ता-साहित्य।
4. वल्लभ दिग्विजय (गोस्वामी यदुनाथ)
5. भक्तमाल (नाभादास)

* **सहायक प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची**

6. भक्त विनोद (कवि मिया सिंह)
7. भक्त नामावली (ध्रुव दास)
8. आइने-अकबरी
9. मुंतख़बुत्तावारीख़
10. मुंशियाते अबुल फ़जल
11. राम रसिकावली (महाराज रघुराज सिंह)
12. नागर समुच्चय (नागरी दास)
13. व्यास वाणी (हरिराम व्यास)
14. मूल गोसाईं चरित तथा कतिपय जनश्रुतियाँ आदि हैं।

देखने में यह सामग्री जितनी अधिक जान पड़ती है, वास्तव में उतनी है नहीं। खेद की बात है कि सूरदास के विषय में जो भी उल्लेख उनमें प्राप्त होता है, वह जनश्रुतियों के आधार पर है, किसी प्रामाणिक आधार पर नहीं। अभी तक इस सामग्री का सम्यक् ऐतिहासिक विवेचन भी नहीं हो सका है। फलतः आलोचकों में कोई किसी के पक्षधर हैं, कोई किसी के। अनुसंधित्सा अभी तक पाठकों की जिज्ञासा को संतुष्ट नहीं कर पाई है।

पहले अन्तःसाक्ष्य पर विचार करें। सूर की प्रमुख तीन रचनाएँ कही जाती है- सूरसारावली, साहित्यलहरी और सूरसागर। डॉ. दीनदयालु गुप्त 'सेवाफल' को भी प्रामाणिक मानते हैं। इनमें 'सूरसारावली' का एक पद, 'साहित्य लहरी' के दो पद और 'सूरसागर' के कई पद सूर के 'जीवन-वृत्त' पर प्रकाश डालते हैं-

"गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
सिव विधान-तप् करयो बहुत दिन तऊँ पार नहिं लीन।"[1]

इस अवतरण के आधार पर आलोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'सूरसारावली' की रचना के समय सूरदास की आयु 67 वर्ष की थी और महाप्रभु वल्लभाचार्य से मिलने के पूर्व वे शैव थे। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा इस रचना को ही सूर की प्रामाणिक रचना नहीं मानते। अन्तःसाक्ष्यों में 'साहित्यलहरी' के दो पद हैं, जिनमें से एक है-

"सुनि पुनि रसन के रस-लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि सुबल सम्वत् पेख।
नंद-नन्दन मास छैते हीन तृतिया वार।
नंद-नन्दन जनमते हैं बान सुख आगार।
तृतीया ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नंद-नंदनदास हित साहित्य-लहरी कीन।।"[2]

इसमें मुनि-7, रसन-1, रस-छ और दसन गौरी नन्द को-1, यह अर्थ किया जाता है। नियम है- 'अंकानाम् वामतोगतिः।' इस सूत्र के अनुसार सम्वत् निकलता है-1617। कुछ विद्वानरसन (रसना) का अर्थ

कार्यों की दृष्टि से 'दो' करते हैं। इससे सम्वत् निकलता है.-1627। इसके अतिरिक्त 'नन्द नन्दन मास' से अभिप्राय है-वैशाख का महीना, 'छत्र से हीन तृतीया' का अर्थ है- अक्षय तृतीया 'तृतीय ऋक्ष' से अर्थ है- कृतिका नक्षत्र और सुकर्म योग में 'बुद्धवार से बाण' अर्थात् पाँचवाँ दिन रविवार। इस प्रकार 'साहित्य लहरी' का निर्माण काल सुबल सम्वत् 1617 या 1627 के वैशाख, अक्षय तृतीया, कृतिका नक्षत्र सुकर्म योग में रविवार दिन बताया जाता है। इस सुबल सम्वत् को लेकर भी मतभेद है। डॉ. मुंशीराम शर्मा 'रसन' का अर्थ 'दो' ही ठीक मानते हैं। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा इसका अर्थ 1607 लेते हैं। साथ ही उनकी मान्यता है कि यह पुस्तक सूर की रचना नहीं को सकती, क्योंकि इसमें आत्म-विज्ञापन की भावना है, जोसूर की प्रवृत्ति के विरुद्ध है। इतना ही नहीं, इसमें केवल युगल-रूप के दर्शन काउल्लेख है। यह भी सूर की भावना के विपरीत है। इस प्रकार इस रचना के आधार पर सूर की जन्मतिथि नहीं निकालीजा सकती है। कुछ लोग मानते हैं कि 'साहित्य लहरी' के इस पद के अनुसार सूर सम्वत् 1627 तक अवश्य जीवित थे। इसी संवत् के आसपास अकबर से उनकी भेंट हुई होगी। 'साहित्य-लहरी' का दूसरा पद है-

'प्रथम ही पृथु जागतें भे प्रकट अद्भुत रूप।'
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप।
तासु बंस प्रसंस में भौ चन्द चारू नवीन।
भूप पृथ्वीराज दीन्हों निन्हैं ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्हौं प्रथम आप नरेस।
दूसरे गुन चन्द ता सुत सील चन्द सरूप।
वीर चन्द प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप।''[3]

यह पद बहुत लम्बा है। इसमें सूर की जाति का उल्लेख है। इसके आधार पर सूर पृथ्वीराज के कवि चन्दवरदायी के वंशज थे और जाति से ब्रह्म भट्ट थे। चन्द कवि के कुल में हरीचन्द हुए, जिनके सात पुत्रों में से सबसे छोटे सूरदास या सूरज दास थे।उनके छः भाई जब यवनों से युद्ध करते हुए मारे गए, तब अन्धे सूरदास इधर-उधर भटकते हुए एकदिन कुएँ में गिर पड़े, छः दिन तक उसी में पड़े रहे, सातवें दिन भगवान कृष्ण सामने प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि देकर अपने दर्शन दिए। भगवान ने कहा-दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा। सूरदास ने अंधे रहने का वर माँगा। भगवान ने उन्हें कुएँ से बाहर निकाला, तब वे पूर्ववत अन्धे हो गए और ब्रज में आकर भजन करने लगे। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का मत है- ''इस पद में अपना परिचय देनेवाला कोई सूरजचन्द नामक ब्रह्म भट्ट है। उसने एक ओर अपने को चन्दवरदाई का वंशज घोषित किया है और दूसरी ओर सूरदास से अपने को अभिन्न सिद्ध करना चाहा है।'' 'सूरसागर' में 'सूरजचन्द' का कहीं प्रयोग नहीं है। इसीलिए उसने कहा है कि भगवान ने स्वयं उनका नाम सूरदास और सूरश्याम रखा है। यह कवि अनुमानतः रीतिकाल के पूर्व नहीं हुआ होगा। इस प्रकार विद्वान इस पद को प्रक्षिप्त मानते हैं। इसके आधार पर सूर की वंशावली का निर्णय करना ठीक नहीं मानते। अतः यह सारा ऊहापोह व्यर्थ है।

डॉ. वर्मा के अनुसार सूर के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त करने के लिए उनकी रचनाओं में एकमात्र आधार 'सूरसागर' ही है। यहाँ भी एक कठिनाई है। गीति रचना होने के कारण 'सूरसागर' में सामान्य कथन भी

प्रायः स्वकथन जान पड़ता है। इन दोनों को अलग करना सरल कार्य नहीं है। दूसरी बात है कि कुछ पदों के प्रक्षिप्त होने की संभावना भी अस्वीकारी नहीं जा सकती। विनय के पदों में जो आत्मकथन हैं, उनमें भी अधिकांश आत्मकथन नहीं हैं, केवल आत्मकथन होने का आभास देते हैं। अतः ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में उनके आधार पर कवि के व्यक्तिगत जीवन का इतिहास निर्मित नहीं हो सकता। माया मोह में लिपटा रहना, ढोंगी स्वामी बनकर चलना, अभक्ष्य का भक्षण करना, अपेय का पान करना, कामी होना, कुटुम्ब से सहायता न पाना आदि कथन सामान्य लौकिक जीवन के चित्रण हैं। सूर जब कहते हैं-

"अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।
महामोह के नूपुर बाजत निंदा-सब्द-रसाल।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल।
तृस्ना नाद करति घट भीतर, नाना बिधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या दूरि करो नँदलाल।"[4]

तो क्या वे अपनी बात कहते हैं? यह तो लोकजीवन का चित्र है। 'सूर कूर आंधरौं हौं द्वार पर्यो गाऊँ'- इस पंक्ति में सूर के अंधे होने का संकेत है। यह संकेत कई स्थलों पर आया है। कृष्ण-जन्म के अवसर पर कवि अपने को नन्द के द्वार पर ढाढ़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रसंग में उन्होंने अपने को जाति का ढाढ़ी, अपना नाम सूरदास और अपना निवास गोवर्द्धन गिरि पर बताया है। उसकी एक ढाढ़िन भी है, जो नाचती, गाती है। इसको यदि व्यक्ति-सत्य के रूप में स्वीकार करें तो इसकी पुष्टि के लिए अन्य प्रमाणों का होना भी अपेक्षित है। जबतक ये प्रमाण नहीं मिल जाते, तबतक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मण के लिए बार-बार कवि ने 'बाँभन' तथा 'पाँडे' शब्द का प्रयोग किया है। ये प्रयोग ब्राह्मण जाति के प्रति उसकी उदासीनता व्यक्त करते हैं। इससे उनके ब्राह्मण न होने का ही संकेत मिलता है। अतः अन्तः साक्ष्य के आधार पर नीचे लिखे निष्कर्ष निकलते हैं-

1. सूरदास अंधे थे, किंतु उनके जन्मांध होने का कोई प्रमाण नहीं है।
2. संभव है सूरदास ने गार्हस्थ जीवन का भी कुछ अनुभव किया है।
3. वे कवि और गायक थे और अकिंचन की भाँति भगवान का गुणगान करते थे।
4. किसी समय वे यमुना के किनारे, गोवर्द्धन गिरि पर निवास करते थे।
5. जाति-पाँति के विषय में वे उदासीन थे। वे अनुमानतः अब्राह्मण, ढाढ़ी या किसी अन्य जाति के थे।
6. गिरिराज पर गोस्वामी विट्ठलनाथ के सत्संग और सेवा का सौभाग्य उन्हें मिला था।

बाहिर्साक्ष्य :-

बाहिर्साक्ष्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' है। इसके रचयिता वल्लभाचार्य के पौत्र गोकुलनाथ कहे जाते हैं। इसमें छः वार्ता प्रसंग हैं। इनसे सूरदास के निवास-स्थान, जीवन-काल और कुछ

अन्य भौतिक परिस्थितियों के बारे में जानकारी मिलती है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने इनसे 14 निष्कर्ष निकाले हैं, जिनमें मुख्य बातें ये हैं- "वल्लभाचार्य से सूर की भेंट गऊ घाट पर हुई थी। उन दिनों वे स्वामी वेश में रहते थे। तबतक वल्लभाचार्य गद्दी पर बैठ चुके थे और उनका विवाह हो चुका था। आचार्य जी की आज्ञा से वे गोवर्द्धन पर श्रीनाथजी के मंदिर में रहकर कीर्तन करने लगे। उनकी भेंट बादशाह अकबर से हुई थी। उनका देहावसान विट्ठलनाथ जी के जीवन-काल में हुआ था। सूर पहले दास्य भाव से भक्ति करते थे; दीक्षित होने के बाद कृष्ण के बाल-रूप के उपासक हो गए; फिर युगल-मूर्ति के उपासक हो गए। गुरु और इष्टदेव में ये अन्तर नहीं मानते थे। सूर स्वभाव से नम्र, निरभिमान और कोमल थे। उनके पदों की संख्या सहस्रावधि हो गई थी और 'सागर' नाम से उसकी प्रसिद्धि हो गई थी।। 'हरिराय के भाव-प्रकाश से' ज्ञात होता है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण और सीही ग्राम के निवासी थे। वे जन्मांध थे और तानसेन के माध्यम से उनकी भेंट अकबर से मथुरा में हुई थी। डॉ. वर्मा इस मत को प्रामाणिक नहीं मानते। सूर की जन्मान्धता की चर्चा मूल वार्ता में नहीं है। यह ऊपर से जोड़ी हुई बात है। हरिरायजी ने साम्प्रदायिक कारणों से चमत्कारपूर्ण जनश्रुतियों को सम्मिलित कर लिया है।

अन्य वार्ता-साहित्य में 'निज वार्ता' और 'अष्टसरवान की वार्ता' प्रमुख हैं। 'निजवार्ता' के अनुसार सूरदासजी वल्लभाचार्य के समवयस थे। वल्लभाचार्य का जन्म सन् 1478 ई. में हुआ था। यही सूरदासजी का भी जन्मकाल है। 'अष्टसरवान की वार्ता' में सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। 'श्रीवल्लभ दिग्विजय' गोस्वामी विट्ठलनाथ के छठे पुत्र यदुनाथ की रचना है। इसके अनुसार पुष्टि-सम्प्रदाय में सूरदास का प्रवेश 1510 ई. के आसपास हुआ। नाभादास जी ने अपनी रचना 'भक्तमाल' में केवल एक छप्पय लिखा है, जिसमें सूर के काव्य-गुणों की प्रशंसा है, उनकी जाति का कोई विवराण नहीं। इस ग्रंथ में दो अन्य सूरदास का विवरण है- एक हैं बिल्वमंगल सूरदास, जिनके वेश्या-प्रेम की जनश्रुति है और दूसरे हैं-सूरदास मदन मोहन, जो अकबर के कर्मचारी थे।

कविमिया सिंह के ग्रंथ 'भक्त-विनोद' में कोई प्रामाणिक बात नहीं है। महाराज रघुराज की रचना 'रासरसिकावली' में उल्लेख है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। उन्होंने परवर्ती कवियों के काव्य को सूरदास का जूठा बताया है। 'मूलगोसाई चरित' बाबा वेणीमाधवदास कीरचना है। इसमें गोस्वामी तुलसीदास से सूरदास के मिलने की कथा है, जो सर्वथा मनगढंत और अप्रामाणिक है। 'भक्त नामावली','व्यास वाणी', 'पद-प्रसंग-माला' आदि में सूरदास के विषय में कोई प्रामाणिक इतिवृत्त नहीं मिलता। 'आइने अकबरी' और 'मुंतख़बुत्ताव़ारीख' दोनों में रामदास गवैया के पुत्र सूरदास का उल्लेख है, जो अकबर के दरबार में रहते थे। 'मुंशियाते अबुल फजल' में काशी के एक सूरदास के नाम लिखे गये एक पत्र की चर्चा है। इन दोनों में से कोई भी अष्टछाप के सूरदास नहीं थे।

सूरदास की जीवनी में जनश्रुतियों का बड़ा हाथ है। अनेक सूरदास नामक व्यतियों को एक ही व्यक्तित्त्व में मिश्रित कर दिया गया है। इनके आधार पर सूरदास के जन्मांध होने की बात नहीं मानी जा सकती। कुएँ में गिरनेवाली घटना भी कल्पित है। रूपवती स्त्री पर मोहित होकर आँख फोड़ने वाली घटना बिल्वमंगल

सूरदास के जीवन की है, उसे भक्तप्रवर सूरदास पर थोप दिया गया है। दिल्ली के पास 'सीही'ग्राम को सूर का जन्म-स्थान बताना किसी किम्वदन्ती पर आधारित है। इसलिए कुछ लोग उन्हें रूनकता का निवासी मानते हैं।

सूर के पदों की संख्या हजार से 'एक लाख' और फिर 'सवालाख' बताई जाती है। यह भी किम्वदन्ती है। सूरश्याम छाप वाले 24 हजार पद प्रक्षिप्त हैं और किसी अन्य सूरदास के हैं। प्रचलित जनश्रुतियाँ भक्तों का माहात्म्य दिखाने के लिए हुआ करती हैं। ठोस प्रमाण मिले बिना उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता।। डॉ. दीनदयाल गुप्त ने अपनी पुस्तक 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' में सूर को सारस्वत बाह्मण लिखा है, परन्तु उसकी सत्यता के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है। सूरदास को ब्रह्म भट्ट भी नहीं मान सकते। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है-'यदि सूरदास को चन्दवरदाई का वंशज माना जाए तो चंदवरदाई को या तो ब्राह्मण होना चाहिए या सूरदास के भाट; परन्तु दोनों ही बातें प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर तथ्यपूर्ण सिद्ध नहीं होतीं।'[5]

निष्कर्ष :-

'सूर की जन्मतिथि के विषय में डॉ. दीनदयाल गुप्त ने एक और जनश्रुति-संकलित की है जिसके अनुसार सूरदासजी महाप्रभु वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। इसके आधार पर सूरदास की जन्मतिथि वैशाख शुक्ल पाँच, सम्वत्1434(सन् 1478 ई.) मानी जा सकती है, लेकिन इस पर भी पूर्ण संतोष नहीं किया सकता है। इसके लिए भी अभी तक ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिले हैं। सूर के इह लोक-लीला-संवरण के बारे में मात्र इतना स्वीकार्य है कि सूरदास जी का निधन विट्ठलनाथ जी के जीवन काल में हुआ था। अपना अन्तिम समय निकट जानकर जब सूरदास पारसोली चले गये, तो गोस्वामी विट्ठलनाथ भी चतुर्भुज दास आदि के साथ वहाँ जा पहुँचे। उनके सामने 'खंजन नैन रूप रस माते' पद गाते-गाते सूरदास के प्राण पखेरू उड़ गये और वे भगवान श्रीकृष्ण में लीन हो गए। उस समय उनकी चित्त-वृत्ति राधा-भाव में लीन थी। संक्षेप में, यही सूरदास का जीवन-वृत्त है।

संदर्भ :-

1. वाजपेयी, नन्द दुलारे. (1985). *महाकवि सूरदास*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 85
2. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र. (1991). काशी : नागरी प्रचारिणी सभा. (चौबीसवाँ संस्करण) पृ. 87.
3. वाजपेयी, नन्द दुलारे. (1985). *महाकवि सूरदास*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 89.
4. शर्मा, नलिन विलोचन. & कुमार, केसरी. (सं.). (1980). *स्वर्ण-मंजूषा.* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास. पृ. 7.
5. वाजपेयी, नन्द दुलारे. (1985). *महाकवि सूरदास*. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 89

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

झारखंड के आदिवासी और महाजनी शोषण की समस्या

डॉ. अभिषेक कुमार यादव*
ykabhishek@gmail.com

यह लेख झारखंड सहित समूचे मुल्क में गांवों की सामाजिक संरचना तक पहुँच रखने वाली बेहद अमानुषिक प्रथा 'महाजनी प्रथा' पर केन्द्रित है। महाजनी प्रथा ने झारखंड के आदिवासियों के जीवन को बहुत गहरे तक प्रभावित किया है। इसके कारण आदिवासियों का जीवन दूभर होता गया है। विस्थापन और संसाधनों के दोहन की मार झेलने वाला आदिवासी समाज इस महाजनी व्यवस्था के कारण गरीबी के अंतहीन चंगुल में फंस गया है। इस लेख में हिन्दी उपन्यासों के माध्यम से झारखंड में महाजनी व्यवस्था के कारणों और उसके प्रभाव को विश्लेषित और व्याख्यायित किया गया है।

झारखंड के आदिवासी इलाकों में इस क्रूर व्यवस्था की पहुँच तभी हुई जब बाहर के लोगों ने जाकर वहाँ बसना शुरू किया। ये बाहरी लोग जिस समाज से सम्बन्ध रखते थे वहाँ जाति-प्रथा, महाजनी-प्रथा का बोल-बाला था जबकि आदिवासी समुदाय सामानों की जरूरत 'विनिमय आधारित' अपनी अर्थव्यवस्था के माध्यम से पूरी करते थे। इसीलिए कर्ज, मालगुजारी आदि एकदम ही नई चीजें थी उनके लिए। धीरे-धीरे बढ़ रही घुसपैठ ने उनकी अर्थ-समाज व्यवस्था को न केवल कमजोर करके तोड़ना शुरू किया बल्कि उनका शोषण करना शुरू किया। इस नयी समाज-अर्थ व्यवस्था से अनजान आदिवासी आसान शिकार हो गए थे इस शोषणकारी व्यवस्था के। अंग्रेजों के आने ने इस प्रक्रिया को जानलेवा तेजी प्रदान कर दी। आदिवासी और बाहर से आए लोग दो भिन्न संस्कृतियों के लोग थे जिनके विश्वास, मान्यताएँ, धर्म, मूल्य, संस्कार, व्यवस्था, सब कुछ भिन्न था। नतीजतन इस क्षेत्र में एक नये दौर की शुरुआत हुई जिसका इतिहास अन्तहीन पीड़ा से भरा हुआ है। राकेश कुमार सिंह अपने उपन्यास 'जो इतिहास में नहीं है' में लिखते हैं कि, "मुर्शिदाबाद के नवाब के महल से लेकर 'दामिन-ए-कोह' की आदिवासी झोपड़ियों तक कम्पनी सरकार अपना एकछत्र राज चाहती थी। मालगुजारी की बढ़ती जाती अन्धी माँगों को पूरा करने के लिए हर वनवासी कभी न कभी पेंच में पड़कर महाजन से रुपये कर्ज लेने पर विवश हो ही जाता था। कर्ज वसूली की दस गुनी रकम भरने के बाद भी एक बार लिया गया कर्ज आदिवासी पर आजीवन भार ही बना रहता था।"[1] और यह भार जीवन से भी ज्यादा भारी होता था। पीढ़ियों तक चलता रहता था यह कर्ज और आदिवासी की पीढ़ियाँ महाजन की गुलाम बन जाती थी। उनकी सम्पत्ति और जमीन को हड़पने के बावजूद भी यह कर्ज कभी खत्म ही नहीं होता था। हमेशा आजाद रहने वाले आदिवासी बंधुआ मजदूर बन जाते थे महाजन के, हालांकि वे कर्ज की सौ गुनी रकम चुका चुके होते थे लेकिन कर्ज अमरबेल की तरह था जो उनके बदन से चिपका ही रहता था। धोखाधड़ी और पीड़ा की भयावह टीस। इन महाजनों की धोखाधड़ी पर लिखते हैं राकेश कुमार सिंह, "महाजनों-साहूकारों के पास

* **सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश**

अनाज तौलने के कुटिल तरीके थे। दोहरी मापक प्रणाली थी। जिस बाट-तराजू से महाजन अनाज खरीदते थे वह सिंदूर से रंगा होता था। तराजू निर्दोष होता था और बटखरा पूरा। वहीं अनाज बेचते समय उपयोग में आने वाले तराजू का एक पल्ला हल्का होता था और बाट आधा। पूरे माल का मूल्य चुकाकर भी आधा माल पाने पर विवश थे आदिवासी"[2] और "यदि कभी कोई व्यक्ति महाजन की इस तौल पद्धति का विरोध करता भी तो महाजन उसे नायब दारोगा या पहलवान का भय दिखाकर घुड़क देता था। सरकारी कर्मचारियों के साथ महाजनों की सांठ-गांठ जंगल समाज के लिए नंगी सच्चाई थी।"[3] राकेश इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि दरअसल यह पूरी सरकारी व्यवस्था महाजनों की ही व्यवस्था है। इसी के खिलाफ संथाल हूल हुआ था। सिदो, जो कि संथाल 'हूल' के महान नेतृत्वकारी नेता थे, जिनसे कि कंपनी शासन की चूलें हिल गई थी, महाजनों को चुनौती देते हुए कहते हैं, "लोटा-डोरी लिये आये थे तुम जंगल में। अब महाजन बनकर हमारा खून दुहने लगे। हम सह गये। हमारा अंगूठा कागज पर लेकर जमींदार बनने लगे तुम हमारी धरती बेचोगे...सो नहीं सहेंगे हम।"[4] सिदो का यह कहना तीन बातों की तरफ इशारा करता है। पहला तो यह कि ये व्यवस्था की पैदाइश हैं जो अपने प्रपंच से लोगों को ठगकर लूट सकते हैं। सिदो के वक्तव्य से जो दूसरी बात स्पष्ट होती है वह यह है कि प्राकृतिक संसाधनों और आदिवासियों की सम्पत्ति की कितनी खुली लूट चल रही है। वे लोग जो साधनहीन बनकर इन इलाकों में आए उन्होंने अपनी चालाकी से आदिवासियों की जमीन और जन को भी छीन लिया और आदिवासी यह सब सहते रहे। तीसरी बात यह है कि आदिवासी इन प्राकृतिक संसाधनों से इस कदर जुड़े हुए हैं कि जब इन संसाधनों को बेचने या बाजार की वस्तु बना देने की बात आती है तो वे विद्रोह का बिगुल बजा देते हैं।

मनमोहन पाठक के उपन्यास 'गगन घटा घहरानी' में जगधारी राय एक ऐसे ही महाजन-ठेकेदार-अपराधी हैं जिन्होंने पूरे सोनाहातू के आदिवासियों को गुलामी की दशा में पहुँचा दिया है। ये आदिवासी या तो उनके कर्जदार हैं या तो उनके आसामी। और जो उनकी इस लूट और दंबगई का विरोध करता है उसके खिलाफ उनके पास हथियार हैं - गुंडे, पुलिस और बलात्कार। जागो उनका सेवकिया बन गया है। न जाने किस पीढ़ी का कर्ज उतारने के लिए उन्होंने उसे बंधुआ मजदूर बना लिया है। "जागो अब सुबह अंधेरा रहते ही उठता और अधनींदी आँखें मलता-मलता बैलों को खोलता। हल-बैल लिए मालिक के खेत में पहुँचता। पसीना बहाता और पोछता काम में जुटा रहता। भूखा जागो दोपहर एक बजे तक हल जोतते हुए पसीना गिराकर उसके खेतों को सींचता। खाने के लिए मालिक एक पाव सत्तू दे देता, लुकमा। जागो फिर हल जोतना शुरू करता जब तब कि सूरज डूब न जाए। लेकिन अभी उसके आराम करने का वक्त नहीं।....अभी बैलों के आराम करने का वक्त है। मालिक के बैल को आराम की जरूरत है लेकिन मनुष्य जागो को नहीं।"[5] जगधारी राय हत्याओं और अमानवीयता की वर्चस्ववादी संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। आदिवासी जागो लगातार सिमटती जा रही उस समतामूलक संस्कृति का प्रतिनिधि है जो अब अपने अस्तित्व के लिए राय जगधारी जैसे लोगों से संघर्ष कर रही है। इस संस्कृति के नायक, "सिदो को जब एक ऐसी, घटना का पता चला तो वह सुनते ही बच्चे की तरह फूट-फूट कर रो पड़े थे। तीस वर्षों से बाप-बेटे पच्चीस रुपये कर्ज के सूद पर काम करते रहे। फिर भी मूलधन

ज्यों का त्यों पड़ा था।"[6] सदियों से जंगल, नदी, पहाड़ जैसे प्राकृतिक संसाधनों के साथ शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे इन आदिवासियों की सारी सम्पत्ति को धोखे से लूटकर उन्हें गुलाम बना देने वाली व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष का ऐलान करते हैं सिदो, "तुम संथाल-राज कायम करो। कंपनी राज को खत्म करो। अंग्रेजों, ठेकेदारों, निलहों और उन देशद्रोहियों से बदला लो जो अंग्रेजी साम्राज्य कायम रखने में अंग्रेजों के मददगार हैं। राजस्व तुम स्वंय वसूलों, भैसों के हल पर दो आने और बैलों के हल पर एक आना सालाना कर वसूल करो। अगर कोई महाजन या दारोगा इस कानून का विरोध करे तो वह देश का दुश्मन समझा जाये और देश के लिए उसका वध कर दिया जाये।"[7] किसी महाजन से उनका कोई निजी वैर नहीं था बल्कि वे महाजनी प्रथा को मिटाना चाहते थे। 'हूल' के लड़ाकों की पकड़ में जब एक महाजन आता है और वह अपनी जान बख्शने के लिए गिड़गिड़ाने लगता है उस वक्त सिदो कहते हैं कि, "हम आदमियों के दुश्मन कतई नहीं हैं। हम तो तुम्हारी खामियों के, जुल्म, शोषण और दमन के दुश्मन हैं। तुमने अपनी हरकतें छोड़ने का वायदा किया तो हम भी तुम्हें मुक्त कर देते हैं। आज से सूदखोरी धंधा बंद करो और श्रम कर जिओ-खाओ।"[8] सिदो का यह वक्तव्य उनके संघर्ष के मूल्यों को पानी की तरह स्पष्ट कर देता है। किसी भी महान क्रांतिकारी की तरह सिदो अपने उद्देश्य में यह स्पष्ट कर देते हैं कि वे दरअसल मनुष्य और मनुष्यता को बचाने के लिए वर्तमान शोषणकारी व्यवस्था से लड़ रहे हैं। इतिहास में भले ही इस महान विद्रोह को नकार दिया जाये या कम महत्व दिया जाये परंतु अपने उद्देश्यों और जज्बें में यह 'हूल' किसी भी महान क्रांति से कम न था। बिना किसी व्यक्तिगत स्वार्थ या रोष के आदिवासी की यह लड़ाई सामूहिक मुक्ति की लड़ाई थी। मधुकर सिंह महाजनी प्रथा द्वारा आदिवासियों के शोषण की इस समूची दास्तान को लिखते हैं, "राजमहल के इर्द-गिर्द अंग्रेज निलहों ने बड़ी-बड़ी कोठियाँ खड़ी कर ली थी। पोटन बड़ा चतुर अंग्रेज था। लगभग एक शताब्दी पूर्व की 'इस्तमारी बंदोबस्ती' उसके दिमाग में हू-ब-हू थी। उसे मालूम था कि हिंदुस्तानी जमींदार कैसे उनकी जमीनों के मालिक बनते चले गए। इनकी क्रूरताओं से बचने के लिए अमन और शांतिप्रिय सरल मन संथाल जंगलों की ओर भागते और समतल जमीन पाकर जंगल साफ करते- खेती करते। लुटेरे यहाँ भी इनका पीछा करने से बाज नहीं आते। जमींदार सरकारी कागजात लेकर पहुँच जाता और लगान-मालगुजारी के लिए बाध्य कर देता। जमींदार और ज्यादा सही कहा जाये तो गुमास्ते, प्यून, महाजन, कर्मचारी, पुलिस, तहसीलदार, अदालत-कचहरी के नौकरशाह-कर्मचारी मिलकर एक साथ संथालों का भयंकर शोषण करते, जबरन सम्पत्ति हड़पकर अपमानित करते। दमन, मारपीट और उत्पीड़न का जाल पसरा हुआ था। कर्ज का सूद पचास से पाँच सौ प्रतिशत तक वसूला जाता।....जमींदार-महाजन तो अपने घोड़े, गधे, हाथी जबर्दस्ती उनके खेतों में घुसा देते...कर्ज की शर्त के रूप में गुलामी और बेगारी आम बात हो गई थी।....अगर वह किसी दूसरे के यहाँ काम कर कर्ज से मुक्ति चाहता तो मालिक महाजन उसके खिलाफ कानूनी कार्रवाई कर जेल भेजने का आतंक फैलाते और बेचारा कर्जखोर हमेशा के लिए घुटने टेक देता।"[9]

कर्ज और सूद की यह अमानवीय प्रथा पूरे तंत्र के साथ मिलकर लूट, हत्या, बलात्कार, क्रूरता की किस हद तक पहुँच गई थी, उपर्युक्त कथन से हम साफ-तौर पर समझ सकते हैं। जमीन, संसाधन, भौतिक

उत्पादनों पर सभी का अधिकार हो ये वे मूल्य थे जिनपर टिका था आदिवासी समाज। लेकिन यही जमीन, संसाधन और भौतिक उत्पादन महाजनों की निगाह में क्या थे इसे हम 'जो इतिहास में नहीं है' की इन पंक्तियों से समझ सकते हैं, "हारिल के खेत की मेड़ों से जब भी गुजरता था महाजन गोरखनाथ साहू तो उसकी आँखों में मरभुक्खे हुड़ार (लकड़बग्घा) जैसी चमक उग आती थी।"[10] परंतु यही जमीन संथाल आदिवासियों को इतनी प्रिय थी कि सिदो इन जमीनों को बेचने से बचाने के लिए अपनी जान दाँव पर लगाकर लड़ने निकल पड़ा था और "साहू भी जानता था कि अपनी परम्पराओं को पूजने वाला संथाल अपने पुरखों की धरती नहीं बेचने वाला।"[11] यही फर्क था जादिक मुरमू और गोरखनाथ महाजन की संस्कृतियों में। जब आदिवासी अपनी जमीन को वापस लेने के लिए कोई कोशिश करता हैं तो यही महाजन उस भोले-सहज आदिवासी को धर्म, नैतिकता का पाठ पढ़ाता है, "गोमके (राजा) से छल करेगा तो मरने के बाद तेरा भूत नासान-बोंगा (बुरी आत्मा) बनकर भटकेगा। ऊपर कौन-सा मुँह दिखाएगा रे।"[12] जो यह नैतिकता और धर्म की शिक्षा दे रहा है, वही सारे व्रत और उपासना करके सबसे बड़ा धार्मिक भी बना हुआ है। परेशानियों से घिरा संथाल आखिर किससे कहने जाय। "दरोगा राजा गोमके के घर मांस-भात खाता है। गुरमेण्ट राजा गोमके जैसे दीकू लोगों की है।"[13] आखिर इस समूचे ताने-बाने से कैसे लड़ेगा जादिक मुरमू और उसका बेटा हारिल मुरमू। जादिक मुरमू ने अपने ही भाइयों को विकल्पहीन होकर मरते-लुटते देखा था। 'जादिक मुरमू की आंखों ने जमाना देखा था। समय के उतार-चढ़ाव देखे थे। दारु की मटकियों के बदले आदिवासियों के खेत बेहाथ होते देखे थे। एक जोड़ा मुर्गा के बदले महुवे का पेड़ बिकता देखा था। बाप-दादों के जमाने से ही चला आ रहा था ऐसा। जिसने भी इस परम्परा का विरोध किया था उसे हांके में बाघ-भालू की जगह गोली खाकर लोटते देखा था जादिक मुरमू ने। जंगल में लोगों को रैयत बनते और सूई जैसे महाजनों को फाल बनते देखा था बूढ़े ने।'[14] जादिक मुरमू का संताप किसी एक व्यक्ति या पीढ़ी का संताप नहीं है बल्कि यह सदियों का संताप है।

विनोद कुमार के उपन्यास 'समर शेष है' में शिबू सोरेन के पिता और महाजनों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने वाले अध्यापक योद्धा सोबरन मांझी की धोखे से नृशंस हत्या करा देते है साहूकार। लेकिन किसी भी ऐसे महानायक की कायरतापूर्ण तरीके से कराई गई हत्या महाजनी के विरोध को रोक नहीं सकती थी। सोबरन के साथी करमाली जी एक ऐसे अनूठे कानून के बारे में सोबरन को बताते हैं जो दिखता तो है गैरकानूनी लेकिन जिसका फायदा उठाकर महाजन पूरे झारखंडी इलाकों में जमीनें कब्जा रहे हैं। 1928 ई0 से ही इन इलाकों के आदिवासियों की जमीन की रजिस्ट्री पर रोक लगी हुई है। परंतु महाजन अपने कर्जदार आदिवासी पर दबाव डालकर उससे 'बाजीदावा' करा लेता है। "इसमें जमीन का मालिक कोर्ट में घोषणा करता है कि यह जमीन उसकी नहीं। सर्वे-सेटलमेंट के वक्त गलती से उसने उक्त जमीन पर अपना दावा पेश कर दिया था। अब मैं इसे पूर्व मालिक को लौटाता हूँ।"[15] और इस तरह कानूनी तरीके से महाजन आदिवासी की जमीन को हड़प लेता है। आदिवासी को ऐसा बयान देने के लिए मजबूर करता है पूरा तंत्र- पुलिस. कर्मचारी, ठेकेदार, जमींदार, महाजन सब। मानो एक निरीह जानवर को खूंखार हिंसक परभक्षियों से घेरकर बयान दिलवाया जा रहा है। करमाली जी उन प्रथाओं के बारे में भी बताते हैं जो जमीन हड़पने के गैरकानूनी हथियार हैं- "पहली विधि है

भुगुत बंधा। इसमें मूलधन और सूद के हिसाब से न्यूनतम 9 वर्षों के लिए महाजन जमीन अपने नाम करवा लेता है। सूद-बंधक में सिर्फ सूद की वसूली के लिए खेत लिखवा लिया जाता है, लेकिन इसमें कोई समय सीमा नहीं। सूद और मूल वापस कर देने पर जमीन पुन: आदिवासी के पास वापस हो जाती है और फिर है कोयला केवाला। जब सूद और मूल वापस करने में मांझी असमर्थ हो जाता है तो खेत स्थायी रूप से महाजन के नाम केवाला कर दिया जाता है।"[16]

महाजन जिस भी गांव या इलाके पर नजर जमा लेते हैं वह देखते ही गरीबी भूख और बर्बादी के मंजर में बदल जाता है। विनोद कुमार एक ऐसे ही गांव 'जेना' का चित्रण करते हैं 'समर शेष है' उपन्यास में, "सड़क के बगल का गांव होने की वजह से महाजनों-साहूकारों की दृष्टि इस गांव पर पड़ी। उन लोगों ने यहाँ लाह और महुआ शराब का धन्धा शुरू किया और इस धन्धे से होने वाली अकूत कमाई तथा छल-प्रपंच की मदद से संथालों की जमीन हड़पने लगे। और धीरे-धीरे आदिवासियों की सारी जमीन हड़प ली। आसपास के गांवों में महाजनी का धन्धा करने वाले तमाम सूदखोर, बनिए इस जगह पर आ बसे। जेना गांव तो आज भी है लेकिन वहाँ के आधिकांश लोग मजदूर बन चुके हैं।"[17] एक पूरी सभ्यता को आर्थिक रूप से कंगाल करके उसके स्वाभिमान को तोड़ कर रख देने का यह काम महाजनों ने किया।

संदर्भ :-

1) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 296
2) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 300
3) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 300
4) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 305
5) पाठक, मनमोहन. (2002). *गगन घटा घहरानी*. नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 11
6) सिंह, मधुकर. (2005). *बाजत अनहद ढोल*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृ. 90
7) सिंह, मधुकर. (2005). *बाजत अनहद ढोल*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. 88
8) सिंह, मधुकर. (2005). *बाजत अनहद ढोल*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. 96
9) सिंह, मधुकर. (2005). *बाजत अनहद ढोल*. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. 9, 10 और 19
10) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 36
11) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 36
12) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 59
13) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 37
14) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 86
15) सिंह, राकेश कुमार. (2005). *जो इतिहास में नहीं है*. नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ. पृ.171
16) कुमार, विनोद. (2005). *समर शेष है*. नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 42
17) कुमार, विनोद. (2005). *समर शेष है*. नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान. पृ. 42-43

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

चिकित्सकीयकरण का गांधीय उपचार

गजानन एस. निलामे*

gajanannilame@gmail.com

सार संक्षेप

प्रस्तुत आलेख में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के चिकित्सकीयकरण पर बात की गई है। विद्वानों का यह मानना है कि भारतीय संदर्भ में इस मुद्दे को लेकर बहुत कम बात होती है, किंतु भारत में आधुनिक चिकित्सा विज्ञान आने से पहले पारंपारिक चिकित्सा ज्ञान की एक लंबी भारतीय परंपरा रही है, जिसे अंग्रेज़ो के आगमन के पश्चात अ-वैज्ञानिक साबित करने की भरसक कोशिश हुई। किंतु इसी समय जब विश्व आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को अपरिहार्य और मानवीय जीवन के लिए अति-आवश्यक मान रहा था तब महात्मा गांधी ने इसके साभ्यतिक खतरे को महसूस किया तथा वैश्विक जन के हित में चिकित्सकीयकरण का पूरजोर विरोध किया। इस विरोध का सूत्रपात गांधी की किताब 'हिंद स्वराज' में दिखाई देता है। शायद यही बात है कि वर्ष 1960 में यूरोपियन देशों में उभरे प्रति- चिकित्सकीयकरण आंदोलन को गांधी के शब्द एक बुनियादी दर्शन बन गए। जब दुनिया चिकित्सकीयकरण के मुद्दे से लड़ रही है वहीं भारत में इसके पूरोधा का अस्तित्व होना काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। प्रस्तुत आलेख में इसी मुद्दे को ध्यान में रखते हुए गांधी के लेखन में चिकित्सकीयकरण (खास कर मानसिक स्वास्थ्य) के खिलाफ़ लड़ने के तरीके जिसे चिकित्सकीय भाषा में उपचार के रूप में विश्लेषित किया गया है।

मुख्य शब्द : महात्मा गांधी, चिकित्सकीयकरण, प्रति- चिकित्सकीयकरण आंदोलन, सामाजिक नियंत्रण, अहिंसा, मानसिक स्वास्थ्य, प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन, हिंद स्वराज।

Key Word - Mahatma Gandhi, Medicalization, Anti-Medicalization Movement, Social Control, Ahimsa, Mental Health, Anti-Psychiatry Movement, Hind Swaraj.

प्रस्तावना

...मेरा यह विश्वास है कि मनुष्य को दवा लेने की शायद ही आवश्यकता रहती है। पथ्य तथा पानी, मिट्टी इत्यादि घरेलू उपचारों से एक हजार में से 999 रोगी स्वस्थ हो सकते हैं। क्षण-क्षण वैद्य, हकीम और डॉक्टर के घर दौड़ने से और शरीर में अनेक प्रकार के पाक और रसायन ठुँसने से मनुष्य न सिर्फ अपने जीवन को छोटा

* **शोधार्थी, महात्मा गांधी फ्यूजी गुरुजी समाज कार्य अध्ययन केंद्र**

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

कर लेता है, बल्कि अपने मन पर काबू भी खो बैठता है। फलत: वह मनुष्यत्व गवां देता है और शरीर का स्वामी रहने के बदले उसका गुलाम बन जाता है। -गांधी, 1957, पृ. 250

अपने समय के अद्भुत साहस के कारण महात्मा गांधी को सारी दुनिया जानती है। गांधी ने अपने समय की लगभग सभी समस्याओं से निजात पाने के तरीकों पर बात रखी है। गांधी उन लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्हे एक खास तरह के षड्यंत्र के तहत शिकार बनाया जाता रहा है। गांधी ने कभी उन व्यवस्थाओं का समर्थन नहीं किया जो समाज में भेदभाव तथा शोषण फैलाती हों। इसी शोषण को भाँपते हुए गांधी ने हिन्द स्वराज में इंजीनियर, डॉक्टर और वकील के पेशे की भर्त्सना की थी। यहाँ तक कि गांधी ने अस्पतालों को पाप की जड़ भी कहा हैं। लेकिन उनके इस भव्य साभ्यतिक मूल्यों को समझने में दुनिया नाकाम रही और इन पेशेवरों ने समाज में विभाजन और लुटपाट के कार्य को अपना नैतिक अधिकार बना लिया। गांधी ने जिस साभ्यातिक विमर्श को खड़ा किया है वह समकालीन दुनिया की किसी भी व्यवस्था के हितों को केवल ध्वस्त ही कर सकती है! इसलिए शायद गांधी को षडयंत्र के तहत एक मसीहा के रूप में प्रकट किया गया।

गांधी अपने समय में स्वास्थ्य क्षेत्र के सामाजिक नियंत्रण को समझ चुके थे इसलिए उन्होंने अपने लेखन में कई बार इसकी चेतावनी भी दी थी। आज वैश्विक स्वास्थ्य संगठन जिस वि-संस्थानीकरण की बात कर रहा है, उससे कई आगे की सोच गांधी ने उस समय में रखी थी। उन्होंने इस नई साभ्यातिक चिकित्सा पद्धति को ही नहीं नकारा था बल्कि इस चिकित्सा की बुनियाद को ही उन्होंने जड़ से उखाड़ फेंकने के प्रयत्न किए थे। किन्तु आज जब बायो-मेडिकलायजेशन के नाम पर या प्राकृतिक चिकित्सा के नाम पर गांधी को ब्रांड के रूप में प्रदर्शित किया जाता है तब वह गांधी का धुंधला सपना भांप बन के उड़ने लगता है।

चिकित्सा के सामाजिक नियंत्रण का विमर्श गांधी के 'हिन्द स्वराज' के बाद भारत के बाहर पश्चिमी राष्ट्रों में जोर पकड़ने लगता है। पश्चिमी विद्वानों ने चिकित्सा के सामाजिक नियंत्रण की पूरी प्रक्रिया को एक नाम दिया जिसे चिकित्सकीयकरण (Medicalization) कहा जाने लगा। पश्चिम में इसके विरोध में प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन भी चला जिसके बीज काफी पहले से वहां फल-फुल रहे थे, किन्तु गांधी के आने के बाद उनके इस आंदोलन को एक मजबूत आधार मिला। अहिंसा और मानवाधिकार के सिद्धांतों के आधार पर यह आंदोलन 1960 के बाद काफी प्रभावशाली रहा। किन्तु धीरे-धीरे यह आंदोलन मुख्यधारा से ऐसे अलग हुआ मानो समाज में ऐसा कुछ हुआ ही न हो। इस आंदोलन के नाकाम होने के कई सारे कारण बताए जाते हैं किन्तु असल बात यह है कि यह आंदोलन जिस रूप में आज बचा है उसका आधार केवल अहिंसा और मानवाधिकार ही है। गांधी की अहिंसा जो इस आंदोलन को व्यापक दृष्टिकोण प्रदान कर सकती थी? इस बात को कुछ चिकित्सकीयकरण पर लिखने वाले विद्वानों ने जान लिया था शायद इसलिए शुरूआती कुछ विद्वान चिकित्सकीयकरण की आलोचना के लिए गांधी के विचारों और प्रतीकों का उपयोग करते रहे किन्तु जैसे ही यह आंदोलन अमेरिका में अपने पैर जमाने लगता है, वैसे ही यह समकालीन मानवाधिकार विमर्श तक सीमित होता दिखाई देता है। प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन एक तरह से केवल कमजोरों का रुदन भर बन के रह गया है।

समकालीन समय में चिकित्सा क्षेत्र के नियंत्रण को तोड़ने के लिए प्रति-चिकित्सा आंदोलन को फिर से गांधी के मूल्यों को अपने आंदोलन में पिरोने की आवश्यकता है, तभी चिकित्सकीयकरण आंदोलन मनुष्य को पूर्णता में समझते हुए, रोगों के केवल लक्षणों का निपटारा करने वाले इस विशालकाय नेटवर्क को तोड़ने तथा मनुष्य को पुन: मानवता की ओर लौटने में मदद कर सकता है। प्रस्तुत आलेख गांधी के आधुनिक चिकित्सा के प्रति रवैये को प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन की नई जमीन पर परखने का प्रयास किया गया है.

चिकित्सक बिना चिकित्सा

औद्योगीकरण के दौर में स्वास्थ्य प्रणालियों का व्यवसायीकरण और संस्थानीकरण जोर पकड़ने लगता है। इस तरह व्यवसायीकरण के द्वारा स्वास्थ्य के क्षेत्र पर एकाधिकार स्थापना की शुरुआत व्यवसायिकों के द्वारा होती है। यह समय ज्ञानशाखाओं द्वारा विशेषज्ञता के अधिकार प्राप्ति का था। विज्ञान की खोजे अपने चरम पर थी, तर्क-तार्किकता मानवतावाद पर हावी हो चुकी थी। धर्म और जादू के प्रवाह में विज्ञान ने अपने लिए जगह बना ली। स्वास्थ्य की अवधारणाओं को समेकित रूप से 'हॉस्पिटलाइज' किया गया। स्वास्थ्य के लिए एक अलग विज्ञान का निर्माण हुआ जिसमें डॉक्टर कर्ता के रूप में रहे। इसी के चलते आज का एक विशाल स्वास्थ्य नेटवर्क तैयार हो सका है। लेकिन अब ये कर्ता डॉक्टर एकदम हाशिये पर चले गए हैं। जिस व्यवस्था को डॉक्टरों ने बनाया अब वही व्यवस्था उन डॉक्टरों को बना रही हैं। पीटर कोनरोड की बात माने तो वे इस तरह के आए परिवर्तनों को कुछ इस तरह देखते हैं। वे विभिन्न जांच पड़ताल के बाद यह तर्क देते हैं कि *चिकित्सा और उसके संगठनात्मक रूप में तीन महत्त्वपूर्ण बदलाव आए हैं, जिसने मेडिकलाइजेशन की प्रक्रिया को चलायमान किया है: बायोटेक्नोलाजी (विशेष रूप से दवा उद्योग और आनुवंशिकी), उपभोक्ता और प्रबंधित देखभाल (Managed Care)। इस पूरी प्रक्रिया में डॉक्टर द्वारपाल की भांति चिकित्सात्मक उपचार के बीच में खड़े हैं* (conrad, 2005)। अर्थात चिकित्सक की भूमिका अब चिकित्सा क्षेत्र में गौण हो रही है। उपभोक्तावाद, बायोटेक्नोलोजी तथा बड़ी पूंजी के निवेश से उभरी प्रबंधित देखभाल की भौतिक संरचना ही चिकित्सा क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इसे फ्रांसिस फुकुयामा की उस अवधारणा से भी जोड़कर देखा जा सकता है, जहां वे अपनी किताब *'एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन'* में बताते हैं कि *किसी भी व्यवस्था को चलायमान रखने के लिए दो बल कार्य करते हैं-'आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान का तर्क' और 'मान्यता के लिए संघर्ष'। उनका मानना है कि यही दो शक्तिशाली ताकते हैं जो मानव इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं* (Fukuyama, 1992)। इसमें से आधुनिक विज्ञान के तर्क को वो आर्थिक प्रक्रियाओं से जुड़ा हुआ पाते हैं, जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अंतत: वह समाजवाद के बजाय पूंजीवाद को ही समर्थन प्रदान करता है। जो इस बात को बल प्रदान करता है कि 'पूंजीवाद ही शाश्वत हैं'।

इस धारणा के अंतर्गत हम चिकित्सकीयकरण को देखे तो यह पता चलता है कि आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान और चिकित्सा विज्ञान का संबंध काफी गहरा रहा है। 18वीं व 19वीं सदी की खोजों ने मानवीय विकास में काफी योगदान दिया है। इसी के बलबूते चिकित्सा विज्ञान मनुष्य के लिए अति-आवश्यक विषय

माना गया। जन्मदर, मृत्युदर जैसी चिंताओं को चिकित्सा विज्ञान ने बहुत बेहतरी से हल किया। किन्तु उत्तरआधुनिकता में प्रवेश आरंभ में ही इस आधुनिक विज्ञान का तर्क कुछ कमजोर पड़ने लगता है। उत्तरआधुनिकता में विज्ञान का तर्क प्रकृतिकीकरण के अंतर्गत लोगों को गुमराह करते हुए दिखाई पड़ता है। जहां गांधीजी सत्य को ईश्वर मान रहे थे वहीं विज्ञान इस सत्य ('ईश्वर का अस्तित्व है') को खोजने के पीछे लगता हुआ दिखाई देता है। स्वास्थ्य के क्षेत्र में विज्ञान की सीमाएं साफ़ नजर आ रही है, इसे सीमा कहे या छिपा पूंजीवादी अजेंडा यह अलग बात है, किन्तु पिछले कई दशकों से जिन बीमारियों से व्यक्ति जूझ रहा है उसके लिए बेहतर दवा खोजने में वो असमर्थ रहा है, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जैसे-एड्स पर इलाज के नाम पर कोई दवा नहीं बनी साथ ही कैंसरग्रस्त लोगों के लिए बेहतर दवा आज भी नहीं बन पाई। इनके लिए प्रतिबंधात्मक उपायों तथा दवाइयों के अलावे कोई उपचार उपलब्ध नहीं हैं.

दूसरी ओर मानसिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में अलग माहौल है। यहाँ मानसिक विकारों की संख्या तो बढ़ रही हैं किंतु उपचार के नाम पर आज भी कोई बेहतर दवाइयां, थेरेपीज उपलब्ध नहीं हैं। इन उपलब्ध दवाइयों के दुष्प्रभाव इतने हैं कि मानसिक विकार के अलावे और समस्याओं का सामना मानसिक रोगी को करना पड़ता है. कुलमिलाकर स्वास्थ्य के क्षेत्र में केवल लक्षणों का ही निपटारा हो रहा है। रोग को ख़त्म करने में आयी इस नाकामी को चिकित्सा विज्ञान अलग-अलग तर्कों से ठुकराने की कोशिश में लगा रहता है। हाल में चिकित्सा विज्ञान ने अपना ध्यान साथ ही पूरे विश्व का ध्यान जीवन शैली रोगों के ऊपर केंद्रित किया है। यह सब किस लिए और क्यों? इसका जवाब नहीं मिल पाता है। विज्ञान ने हमें प्रकृति से रूबरू कराया किन्तु अब चिकित्सा विज्ञान इस घटना का मूल्य लोगों से वसूलने लगा है। लोगों के डर को पूंजी में तब्दील करने का यह एक आसान जरिया सा बन गया है।

अब तक यह मान कर चला जा रहा था कि चिकित्सा विज्ञान में चिकित्सक ही सबकुछ होता है। क्योंकि किसी भी व्यक्ति की स्वस्थता कम से कम आज तो उसी के हाथों में मानी जाती है। इसलिए उन्हे धरती का भगवान! भी माना गया है। ऐसे में यह बात साफ होती है कि चिकित्सक के बिना चिकित्सा विज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता है। किन्तु अब ऐसा नहीं है क्योंकि जिस तरह से बिना लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं के दुनियाभर में लोकतंत्र खड़ा है ठीक वैसे ही चिकित्सा विज्ञान भी बिना चिकित्सकों के आज खड़ा दिखाई देगा! इसमें पूंजीवादी, बायोटेक्नोलोजी, प्रबंधकीय देखभाल के हस्तक्षेप व्यवस्थित तरीके से देखने को मिलेंगे।

दूसरी ओर रोगी का रोग ही नहीं बल्कि रोगी के बीमा, हेल्थ इन्शुरंस आदि के आधार पर उनका इलाज हो रहा है। ज़्यादातर चिकित्सक अपने हिसाब से नहीं बल्कि दवाई निर्माता कंपनी के उत्पादन के अनुसार रोगियों के इलाज में जुटे दिखाई देते हैं। महंगी ट्रिप, महंगे गिफ्ट आदि के लालच में ये दवा निर्माता कंपनियाँ चिकित्सकों का अपने लाभ के लिए उपयोग करते हुए दिखाई देते हैं। इतना ही नहीं चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाले शोध भी इसी तरह के किसी दवाई निर्माता कंपनी के अनुदान से संचालित है, जिसका अंतिम उद्देश्य दवाई कंपनी का लाभ ही है। ऐसे में चिकित्सकों का अपना कोई अस्तित्व शायद ही बचा रहा हो! आज

वो चाहकर भी रोगियों को उचित सेवाएँ नहीं प्रदान कर सकते हैं। ऐसा करने पर उनके आर्थिक हित को चोट लग सकती है। इस कीमत पर शायद ही कोई चिकित्सक अपनी सेवा देना चाहेगा। इसलिए यह कहना उचित होगा कि बिना चिकित्सक के चिकित्सा प्रणाली आज कार्य कर रही है जिसमें अन्य अनावश्यक तत्वों द्वारा वह संचालीत होती हुई दिखाई देती है।

पिछली सदी की वैज्ञानिक खोजें तथा उन्नत तकनीके चिकित्सक और रोगी के बीच का गैप भरने में नाकाम रही है। नतीजतन इन चिकित्सक और रोगी के बीच आज कडा संघर्ष पाया जाता है। इस संघर्ष का काफी फायदा बाजार ने उठाया है। नई तकनीकों के विकास में पूँजी निवेश कर नए-नए उत्पाद बनाए गए, इन्हें चिकित्सकों द्वारा भी काफी सराहा गया। आगे रोगीयों का विश्वास पाने में भी चिकित्सकों की यह सहायता करता रहा। चिकित्सा विज्ञान के इन उन्नत तकनीकों पर आधारित उत्पादों के उभार के बाद धीरे-धीरे चिकित्सकों की भूमिका सीमित हो गई। मानो अब वो केवल वैद्यता के लिए ही हो। दवाइयों का उद्योग इतना बढ़ गया है कि अब वे ऑनलाइन मार्केटिंग के अंतर्गत लोगों के घर तक सीधे पहुँच पा रहे हैं। ऐसे कई सारे मेडिकल टूल विकसित हो गए हैं जिससे अस्वस्थ व्यक्ति अपनी खुद जांच करा सकता है। ऐसे में चिकित्सक केवल 'As Prescribed by the Physician' तक सीमित होकर रह गए हैं। दुसरे शब्दों में कहें तो चिकित्सक अब केवल 'सलाह' बनकर रह गए हैं। जिस चिकित्सक की सलाह बेहतर आज वही चिकित्सक रोगियों में विश्वासपात्र बन जाता है.

अस्पताल पाप की जड़

गांधी ने बहुत पहले ही इस अस्पताली ढांचे को हिंसा का गढ़ माना था। चिकित्सक और चिकित्सालय दोनों की वे आलोचना करते हैं। अस्पताल को तो वे 'पाप की जड़' मानते हैं। ये वही जगह हैं जहां रोगी को दैनंदिन जीवन से जुड़ी समस्याओं का सैद्धांतिक विश्लेषण किया जाता है जोकि बहुत ज्यादा जरूरी नहीं हैं। गांधी का मानना था कि ज़्यादातर बीमारियाँ थोड़े से सजग होने से ठीक हो सकती हैं। गांधी मानते हैं कि अस्पतालों में रोगियों का उपचार कम अनीति ज्यादा होती हैं। और यह जो बात वो कह रहे हैं यह आज भी कितनी प्रासंगिक हैं इसे देखा जा सकता है। गांधी उस समय लिख रहे थे कि *...शरीर मात्र के खोटे उपचार की खातिर वे हर बरस लाखों जीवों की हत्या करते हैं, जीवित प्राणियों पर प्रयोग करते हैं। ...मानव शरीर के खातिर इतने प्राणियों को मारने की जरूरत नहीं हैं* (Gandhi); (Sharma & Suhrud, 2010, p. 45)।

गांधी के बाद कुछ विद्वानों ने इस चिकित्सकीय साम्राज्य के पोलिटिकिल-इकॉनोमी की खोजबीन की है, इसमें एहरेंरिच महत्वपूर्ण हैं. एहरेंरिच (Ehrenreich,1971) ने अपनी किताब '*द अमेरिकन हेल्थ एम्पायर*' में पहली बार मेडिकल-इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स की अवधारणा प्रस्तुत की है। जिसमें उनका मानना है कि अब स्वास्थ्य व्यवस्था नहीं रहा बल्कि यह अरबों-खरबों डॉलर का एक उद्योग बन गया है। इस एन्टरप्राइजेज में डॉक्टर, हॉस्पिटल, नर्सिंग होम, बीमा कंपनियां, दवा निर्माता, हॉस्पिटल सप्लायर्स एवं उपकरण कंपनियां,

रियल इस्टेट एवं कंस्ट्रक्शन बिजनेस, हेल्थ सिस्टम कंसल्टिंग एवं अकाउंटिंग फर्म तथा बैंक आदि शामिल हैं। उनका कहना है कि कम से कम अमेरिका में तो स्वास्थ्य व्यवस्था एक बिजनेस है, जिसका प्राथमिक उद्देश्य केवल मुनाफा कमाना है। इसके बाद दो अन्य उद्देश्य हैं, एक इसका प्रकार्य और दूसरा शोध और शिक्षण। एहरेंरिच के बाद के विद्वानों में नवार्रो (navarro, 1976), एस्टेस एवं अन्य (Estes and colleagues, 1984), वोहल (Wohl, 1984) एवं मैक किनले एवं स्टोएकल (McKinlay and Stoeckle, 1994) ने एहरेंरिच की इस अवधारणा की छानबीन की थी। इन विद्वानों के तर्कों को हिम्मेल्स्टीन एवं वूलहैंडलर (Himmelstein and Woolhandler, 1990) एकत्रित करते हैं। उनके मुताबिक हेल्थ केयर सुविधा प्रदाता जिसके अंतर्गत मुनाफा कमाते हैं, वे नुस्खे निम्नलिखित हैं-

- कर्मचारियों की उत्पादकता में सुधार के माध्यम से,
- वैचारिक धरातल पर मुनाफा और उत्पादन में सहयोगी एवं आवश्यक सामाजिक स्थिरता की निश्चितता कर,
- मुनाफे तथा निवेश के लिए बड़े पैमाने पर अवसर प्रदान कर, और
- अंत में इसका प्रमुख प्रकार्य लाभ प्राप्ति ही है।

इस समय स्वास्थ्य व्यवस्था पूरी तरह से पूंजीवादी उत्पादन के युग में प्रवेश कर चुकी है। आजकल यही इसको संचालित भी कर रहा है। इसका उदाहरण देखा जा सकता है कि विभिन्न निवेशकों ने स्वास्थ्य व्यवस्था में प्रवेश कर लिया है। जैसे- मेदान्ता समूह ने गुड़गांव में एक मेडिसिटी स्थापित कर ली है और द सहारा ग्रुप एम्बी वैली सिटी में 1500 बेड का एक मल्टीस्पेशलिटी हॉस्पिटल शुरू करने जा रहा है। इतना ही नहीं पहले से खड़े बड़े हॉस्पिटल, अपोलो, फोर्टिस हेल्थकेयर तथा मैक्स इंडिया जैसे अस्पताल भी इनके साथ स्पर्धा करने के लिए अपनी व्यवस्था, संरचना को अपग्रेड करने में जुट गए हैं (Sehgal, 2007, पृ. 11) हाल ही में इस स्पर्धा में अंबानी भी उतरा है। इन सब के अपने मल्टी-स्पेशियलिटी हॉस्पिटल हैं।

चिकित्सकीयकरण के अहिंसाकरण में डॉक्टर की भूमिका

समकालीन स्वास्थ्य व्यवस्था बाजारीकरण के गिरफ्त में फंसी हैं यहाँ डॉक्टर जैसे पेशे केवल मुनाफा कमाने के लिए ही होते हैं, यह विचार मजबूत होने लगा है। भारत की चिकित्सा शिक्षा प्रणाली पर नजर डाले तो इससे बहुत कुछ समझ में आने लगता है। डॉक्टर की पढ़ाई करने के लिए जिस तरह की होड़ लोगों के बीच लगी हैं उससे यह समझ में आता है कि यह व्यवसाय कितना मुनाफा देता होगा। एमबीबीएस में प्रवेश न मिला तो डेन्टिस्ट ही सही वो भी न मिला तो बी. फार्म. में ही पढ़ेंगे। इसके लिए हर कोई किसी भी हद तक जाने के लिए तैयार है। घुस, सिफ़ारिश आदि का जिस तरह से भी हो सकता है उपयोग किया जाता है। भारत में चिकित्सा विज्ञान की प्रवेश परीक्षा में न्यायालय का हस्तक्षेप न हुआ हो ऐसा शायद ही हुआ है। हर बार NEET के परीक्षा में होने वाली धांदली अखबारों में पढ़ी जा सकती है। माता-पिता अपनी सारी मेहनत तथा

पूंजी केवल अपने बच्चे को डॉक्टर बनाने में लगाते हैं। ऐसे में यह सवाल खड़ा होता है कि ऐसा क्या है इस डॉक्टर की पढ़ाई में, लोगों के कल्याण और स्वस्थता का आवरण ओढ़े इस इस व्यवसाय की पोल गांधी ने अपने समय में ही खोल दी थी।

गांधीजी कहते हैं *हम डॉक्टर क्यों बनते हैं, इस पर विचार करना होगा। इसका असल कारण तो है, आबरूदार और पैसा कमाने का धंधा करने की चाह, परोपकार की उसमें कोई बात नहीं। यह तो मैं समझ ही चुका हूँ कि इस धंधे में परोपकार की जगह नहीं हैं। इससे लोगों को नुकसान होता हैं। डॉक्टर मात्र आडंबर के बूते पर लोगों से मोटी फीस वसूल करते हैं। यदि उनकी दवा एक पैसे भर की हो तो वो एक रुपया वसूल करते हैं। स्वस्थ होने की आशा और विश्वास में लोग ठगे जाते हैं। जब ऐसा ही हो तो भलाई का दिखावा करने वाले डॉक्टरों से तो ठग-वैद्य दिखने वाले भले* (Gandhi)*;* (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 45-46)।

हाल के प्रचलन के अनुसार नेता, अभिनेता, खिलाड़ी और डॉक्टर की अगली पीढ़ी पर यह दबाव होता है कि वो भी अपने माता-पिता जैसे बने। यह दबाव कहाँ से आ रहा है? असल में यह दबाव एक उज्ज्वल भविष्य का दबाव है, पिछली पीढ़ी के बने-बनाए प्रेस्टीज़ को आगे प्रवाहित करने का दबाव है। ऐसे में बनने वाला डॉक्टर कैसा होगा यह इसका परिणाम समाज में हर तरफ दिख रहा हैं।

अंग्रेज़ो के पूर्व भारत की स्थिति के बारे में गांधी लिखते हैं कि *यहाँ ...वकील, चिकित्सक वगैरह लोगों को लूटते नहीं थे; वह तो लोक पर आश्रित थे, उन पर हावी नहीं थे* (Gandhi) (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 48)। लेकिन अब यह आबरूदार पीढ़ी नई तकनीकों से लैस हैं वो लोगों को किसी भी हद तक जाकर केवल लूटने के बारे में ही सोच सकती है। सत्ता और प्रेस्टीज़ का यह नशा उनसे कुछ भी करवा सकता है। यह ...लोग आधे पागल से दिखते हैं। इनमें सच्चा साहस और क्षमता नहीं; उनकी शक्ति नशे पर टिकी है (Gandhi); (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 25)। यह नशा उनको NEET में शून्य अंक मिलने के बाद भी पोटली भरकर पैसों से डॉक्टरी की सीट खरीदवाता है। यह नशा उनको प्रवेश न मिलने के बाद फर्जी डिग्री जुगाड़ कर प्रैक्टिस करने के लिए प्रेरित कर सकता है। यही वो नशा है जो मृत रोगी को वेंटिलेटर पर रखकर रोगी के घरवालों से पैसा जमा करने के लिए कह सकता है।

आए दिन हो रही इन वारदातों को देखकर जिस समस्या को हम नहीं समझ पा रहे हैं उसको काफी पहले गांधी ने भाँप लिया था। इसलिए इस पेशे से जुड़े डॉक्टरों के सुधार हेतु गांधी ने कुछ सुझाव दिए थे। यह सुझाव प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन की मांगों से काफी मिलते जुलते दिखाई देते हैं। गांधी ने कहा कि *जो डॉक्टर हैं, अपना धन्दा तज दे और समझे कि लोगों के हाड़-मांस कुरेदने से बेहतर है, लोगों की आत्मा कुरेदकर शोध करे, और उन्हे निरोगी बनाए* (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 81)। चूंकि गांधी मन-शरीर के द्वैत के विरुद्ध थे और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इसी द्वैतवाद पर टीका हुआ है। गांधी के नजर में मानव प्राणी मन, शरीर और आत्मा का एकीकृत स्वरूप है (Khattri & Joshi, 2015, पृ. 55)। ऐसे में केवल रोगी के लक्षणों के निपटारे तक सीमित होने वाली चिकित्सा प्रणाली से वे घृणा करते थे। ठीक इसी तर्क के आधार पर

बी. एम. हेगड़े जो स्वयं एक डॉक्टर हैं, अपने आलेख *Reality of Medical Education in India* में लिखते हैं कि आज भारत की जमीन पर शैक्षिक सुधार हेतु बहुतेरे सेमिनार हो रहे हैं। यह सब किस लिए? इसके जवाब में वे खुद लिखते हैं कि यह सब केवल निहित स्वार्थ के कारण ही किया जा रहा है। दवाइयाँ एवं मेडिकल उपकरण उद्योग, यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं और वे यह कर सकते हैं, क्यों नहीं? मेडिकल के क्षेत्र में जिस तरह उसके स्टार कलाकार (डॉक्टर) अपना प्रदर्शन कर रहे हैं, उससे एक सत्ता का निर्माण हो रहा है, इसी के आधार पर वे स्थितियाँ बनाए रखने में समर्थ हैं। मेडिकल से जुड़े हममें से ज्यादातर लोग पैसों के चक्कर में आकर इसे एक ऐसा व्यवसाय बना लेते हैं, जिसमें यह मान लिया गया है कि यहाँ प्रगति (रोगियों की सेवाओं में) के बारे में सोचना नहीं चाहिए। इसके लिए एक सामान्य तर्क हमारे पास है, जैसे- हम इसी व्यवस्था से जुड़े हैं; हम जो कुछ कर रहें है वह ठीक है; तब बदलाव किस लिए? उन्हें यह पता नहीं है कि वे जो कर रहे हैं वह ठीक नहीं है और जिस व्यवस्था से वे जुड़े हैं, उससे भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती, अक्षमता, उदासीनता की बदबू आ रही है और एक मात्र पैसा कमाने के चक्कर में वे अवैज्ञानिक विधियों को प्रचालन में लाए जा रहे हैं। मेडिकल शिक्षा के चल रहे प्रयास से सारी मानवता के लिए अच्छे प्रशिक्षित मानवीय, मानव-सोच, दक्षता और भले चिकित्सक जैसा यहाँ कौन है? डॉ. हेगड़े का सीधा प्रश्न है कि अगर मनुष्य का व्यवहार बहुरेखीय है तब चिकित्सा विज्ञान इसका उपचार एकरेखीय प्रणाली में क्यों करता है?[†]

इस पूरी प्रक्रिया को गांधी काफी पहले समझ रहे थे कि डॉक्टर अपने आर्थिक हितों के कारण लोगों को केवल निरोगी बनाए रखने की प्रक्रिया से बचेंगे। इसलिए गांधी ने हिन्द स्वराज में ऐसे डॉक्टरों के लिए दूसरा सुझाव दिया है कि *जो डॉक्टर हैं, वह चाहे किसी भी धर्म का हो, यह समझे कि अंग्रेजी वैद्यशालाओं में जीवों पर की जाने वाली हिंसा से ही यदि शरीर निरोगी होता हो तो अच्छा है वह निरोगी न हो और रोगी ही बना रहे* (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 81)। इस तरह वे डॉक्टरों को उनके द्वारा की जाने वाली हिंसा को रोकने के लिए इस हद तक जाते हैं कि अगर हिंसा से ही शरीर निरोगी हो सकता है, ऐसी व्यवस्था से ही डॉक्टर इलाज करेंगे तब उन रोगियों को रोगी बने रहने में ही भलाई है। क्योंकि इससे होने वाली हिंसा अंततः रोगी को कोई बेहतर जीवन शैली प्रदान नहीं कर सकेगी। गांधी मानते थे कि *डॉक्टरों का काम है, मात्र शरीर संभालना। सच तो यह है कि शरीर सँभलना भी उनका काम नहीं हैं। उनका काम है, शरीर में यदि रोग हो तो उसे दूर करना। रोग क्यों होते हैं? हमारी अपनी लापरवाही से। मान लो मैं बहुत खाता हूँ और मुझे बदहजमी हो जाती है। मैं डॉक्टर के पास जाता हूँ, वह मुझे गोली देता है। मैं स्वस्थ हो जाता हूँ, फिर से खूब खाता हूँ और गोली लेता हूँ ऐसा ही हो रहा है। यदि मैं गोली न लेता, बदहज़मी की सजा भुगतता तो अगली बार मैं अपनी सीमा से बाहर न खाता। डॉक्टर बीच मेन आया और उसने मुझे अपनी हद से ऊपर खाने में मदद की। उससे मेरे शरीर को तो आराम मिला लेकिन मेरा मन निर्बल हुआ। ऐसे चलन से अंत में स्थिति आएगी कि अपने मन पर मेरा काबू जरा भी नहीं रहेगा। मैंने विषय भोग किया, मैं बीमार पड़ा, डॉक्टर ने मुझे दावा दी और मैं स्वस्थ हुआ।*

[†] **B.M. Hegde, M.D/TEASER Sages & Scientists Symposium LA COSTA, CA Fri 2/26/2010**

क्या मैं फिर से विषय भोग नहीं करूंगा? निश्चित करूंगा। यदि डॉक्टर बीच में न आता तो कुदरत अपना कार्य करती, मेरा मन दृढ़ होता और अंत में निर्विषयी होकर मैं सुखी होता (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 45)। इसलिए गांधी अधिक दृढ़ होकर यह बात रखते हैं जो उक्त दोनों सुझाव का चरम हैं। वे कहते हैं कि *जो डॉक्टर होने पर भी चरखा थामेगा और रोगी को रोग के कारण समझाएगा और उन्हें दूर करने को कहेगा; निकम्मी दवाएं देकर शरीर को फुसलाएगा नहीं। जो यह समझे कि निकम्मी दवा न लेने के कारण यदि रोगी खत्म भी हो जाए तो दुनिया रांड नहीं हो जाएगी, बल्कि यह उस मानुस के प्रति सच्ची दया होगी* (Sharma & Suhrud, 2010, पृ. 81-82)। यही अहिंसा और का परमोत्कर्ष होगा।

चिकित्सकीयकरण का अहिंसाकरण

मरियम वेबस्टर डिक्शनरी के अनुसार चिकित्साकृत (Medicalize) शब्द का पहला ज्ञात प्रयोग 1970 के आसपास किया गया था।

ऑनलाइन डिक्शनरी डॉट कॉम ने Medicalize शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है- to handle or accept as deserving of or appropriate for medical treatment। अर्थात जो मेडिकल उपचार के लिए योग्य है।

चिकित्सीयकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानवीय परिस्थितियों और समस्याओं को चिकित्सकीय परिस्थिति (Medical Conditions) के रूप में माना जाता है और इसी आधार पर उसे चिकित्सकीय अध्ययन, निदान, रोकथाम या उपचार का विषय माना जाता है। *चिकित्सा मानवशास्त्र* में चिकित्सीयकरण को परिभाषित करते हुए लिखा गया है कि "चिकित्सीयकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से सामान्य मानवीय स्थितियों (व्यवहारिक, शारीरिक या भावनात्मक) को चिकित्सा समस्या के रूप में पेश किया जाता है, तथा चिकित्सकीय व्यावसायिकों के अधिकार क्षेत्र के तहत इसमें चिकित्सकीय उपचार की आवश्यकता को महसूस करवाया जाता है। चिकित्सीयकरण की प्रक्रिया बहुआयामी है तथा यह स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली से संबंधित मुख्य घटकों: चिकित्सकीय निवेश में बढ़ोतरी, चिकित्सकीय व्यवसायीकरण/विशेषीकरण तथा इसके सापेक्ष आकार के अनुसार औषधीय उद्योगों में भी बढ़ोतरी का विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है (Zeng, 2011).

पिछली शताब्दी के शायद ही ऐसे लोग होंगे जो आधुनिक चिकित्सा का विरोध करते हों. अगर ऐसे लोगों की सूची बनाई जाए तो इस सूची में गांधी पहले पायदान पर होंगे. प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन से जुड़े विद्वानों इवान इलिच, आर. डी. लैंग, डेविड कूपर, थामस स्जाज आदि लोग भी काफी सोच समझकर, बचते हुए आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की आलोचना करते हैं। जैसे इनमें से ज़्यादातर विद्वान मानसिक स्वास्थ्य के रूपकों से निर्मित मानसिक बीमारियों पर बात करते हैं और वे आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के नियमित प्रैक्टिस में आने वाले रोगों तथा उनकी इलाज प्रक्रिया पर बात नहीं करते। वैज्ञानिकता और तार्किकता का हवाला देकर जिन मानसिक रोगों के लेबलीकरण का वो विरोध करते हैं उतना ही वे चिकित्सा विज्ञान के शारीरिक

बीमारियों के चिकित्सकरण को स्वीकार करते जाते हैं। असल में प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन से जुड़े विद्वान सिग्मंड फ्रायड के मनोविश्लेषण प्रक्रिया के विरोध में दिखते हैं। किन्तु मजे की बात यह है कि जब यह आंदोलन उभरा तब (वर्ष 1940 के बाद मनोविश्लेषण अपनी ही कमियों के कारण अमेरिका के महत्वपूर्ण अस्पतालों से अवनति की ओर जा रहा था।) मनोविश्लेषण का असर काफी कम हुआ था। उसकी जगह अन्य प्रणालियों ने लेनी शुरू की था ऐसे में यह आंदोलन समकालीन स्थितियों में कोई बड़ा-व्यापक बदलाव नहीं ला रहा था। असल में यह आंदोलन तो अंततः चिकित्सा विज्ञान के हित में ही दिखाई देता हैं।

लेकिन गांधी का चिकित्सकीयकरण को किया गया विरोध किसी एक थेरेपी या किसी एक विद्वान की कार्यप्रणाली पर उठाया गया सतही सवाल नहीं था जिसे किसी और विद्वान के कार्यप्रणाली से बदल दिया जाए। गांधी प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन से कई मामलों में आगे की सोच रहे थे। वह प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन की तरह केवल मानवाधिकार के दायरे से बंधे नहीं थे। वो तो वन्य प्राणी, पर्यावरण आदि के अधिकार के बारे में भी सोच रहे थे। उनका कहना था कि अगर इनकी बली देकर कोई रोगी ठीक हो सकता है तो ऐसे रोगी का रोगी ही बने रहना ही ठीक है। वो चिकित्सकों के आत्मशुद्धि और रोगी के उपचार में अहिंसक प्रक्रिया को शामिल करना चाहते थे। गांधी के पास केवल उंगली उठाने भर के लिए तर्क ही नहीं थे बल्कि उसके परिशुद्धि के विकल्प भी उनके पास मौजूद थे। प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन ने कमोबेश गांधी को अपनाया किन्तु उनके विचारों को अपने आंदोलनों से जोड़ पाने में अक्षम दिखाई पड़ते हैं। बावजूद इसके प्रति-मनोचिकित्सा और गांधी के बीच कुछ संबंध दिखाई पड़ता है।

गांधी ने कभी भी मनोचिकित्सा पर सीधे बात नहीं की है इसलिए भी प्रतिमनोचिकित्सा आंदोलन गांधी के दर्शन से जुडने में हिचकिचाता हुआ दिखाई देता है। एक ओर प्रतिमनोचिकित्सा आंदोलन की वेबसाइट पर गांधी के अहिंसा दर्शन को वो अपनाते हैं। महात्मा गांधी पर लिखी किताब *Mahatma - A Golden Treasury of Wisdom - Thoughts & Glimpses of Life*, compiled, edited, and published by Sri. Meghshyam T. Ajgaonkar, Bombay, India - 1995. के कुल नौ उद्धरणों को वे अपने आंदोलनों से जोड़ने की कोशिश करते हैं। दूसरी ओर इसके पहले गांधी और प्रति-मनोचिकित्सा आन्दोलों के तार लंदन के *किंग्सले हॉल* के साथ जुडते हुए दिखाई देते हैं।

वर्ष 1931 में जब गांधी लंदन गए थे तब उन्होने होटल में रुकने से मना किया था और *किंग्सले हॉल* जो एक समुदाय केंद्र था में रुके थे। गांधी वहाँ रहकर अपनी प्रार्थना भी करते थे। लगभग 12 सप्ताह वे वहाँ रुके थे। ठीक इसके तीस-पैंतीस साल बाद वर्ष 1965 में आर. डी. लैंग ने किंग्सले हॉल के प्रशासन से बार करने यह हॉल मनोविकृति (साइकोसिस) के नॉन-ड्रग थेरेपी के परीक्षणों के लिए लिया था। और इस परीक्षण में लैंग काफी हद तक सफल भी रहे थे। मेरी बार्नेस जो पहली पेशंट और बाद में नर्स रही, वो इस वैकल्पिक चिकित्सा की सफलता मानी जाती है। जहां गांधी रह चुके हैं उस जगह को लैंग द्वारा परीक्षण के लिए चुना जाना महज

एक इत्तेफाक हो सकता है किन्तु विचारों के मामले में यह इत्तेफाक दोनों के बीच की खाई को पाटता हुआ नजर आता है।

गांधी चिकित्सा को व्यवसाय से बाहर समाज में, प्रकृति में स्थापित करना चाहते थे दूसरी ओर प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन मानसिक रोगियों को मानसिक स्वास्थ्य संस्थानों के अमानवीय तरीकों से निजात दिलाना चाहता था। असल में यह मामला साध्य और साधन का था। चिकित्सा विज्ञान के साध्य और साधन दोनों पर गांधी और प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन सवाल उठाते हैं। सवाल उठाने वालों में से एक प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन से जुड़े विद्वान उसी पेशे से जुड़े हैं तो दूसरी ओर गांधी एक सामान्य, प्रयोगशील व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। दोनों के साध्य और साधनों में काफी अंतर दिखाई देता है। प्रतिमनोचिकित्सा आंदोलन मनोचिकित्सा की तरह ही एक अलग व्यवस्था का निर्माण करना चाहता है जो कि मानवीय हो। लेकिन गांधी ऐसी किसी व्यवस्था में यकीन ही नहीं करते हैं। वो तो वी-व्यवसायीकरन की बात करते हैं। प्रति-मनोचिकित्सा आंदोलन और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान बाइनरी विकल्प लोगों के सामने 'ये या वो' की भ्रांति पैदा करते हैं। चिकित्सकीयकरण के विभिन्न इंजिन आज समाज में हाहाकार मचाए हुए हैं। बायोटेक्नोलॉजी (विशेष रूप से दवा उद्योग और आनुवंशिकी), उपभोक्ता, प्रबंधित देखभाल (managed care), आरोग्य प्राप्ति का जुनून (Wellness Obsession), औषधि उद्योग (Pharmaceutical Industry), राज्य-नियामक विचारधारा एवं नीतियाँ (Regulatory-state Ideology or Policy) इन सब के चलते मनुष्य के ज़्यादातर व्यवहार का चिकित्सकीयकरण हो चुका है बाकी अभी प्रक्रियाधिन हैं। गौरतलब बात यह है कि यह सब ऐसे समय में हो रहा है जब दुनिया के अधिकतम देश लोकतांत्रिक हैं। और यह लोकतंत्र इन चीजों से लड़ने में कितना मजबूत है यह तो दिख ही रहा है। गांधी ने यूँ ही नहीं इस लोकतांत्रिक प्रणाली पर अविश्वास जताया था! ऐसे में प्रतिमनोचिकित्सा से बेहतर विकल्प जिस आधार पर चिकित्सकीयकरण का विरोध किया जा सकता है वह गांधी का रास्ता ही हो सकता है! गांधी का वह रास्ता अहिंसा होगा।

अहिंसा एक ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य के अंतहीन विकास के द्वार खोलती है। अहिंसा साध्य प्राप्ति के लिए मनुष्य को साधनों की आपूर्ति का अव्याहत स्रोत है। गांधी स्वयंम हरिजन में लिखते हैं कि *मेरी राय में अहिंसा केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहीं है। वह एक सामाजिक सद्गुण भी है, जिसका विकास अन्य सद्गुणों की भाँति किया जाना चाहिए। अवश्य ही समाज का नियमन ज्यादातर आपस के व्यवहार में अहिंसा के प्रगत होने से होता है। मेरा अनुरोध इतना ही है कि उसका राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर अधिक विस्तार किया जाए(हरिजन, 07.01.1939)।*

गांधी के चिकित्सकीयकरण के कलंक से निपटने के तरीके

एक अंतर्मुखी व्यक्ति अपने आप को हर उस समस्या के लिए कोसता रहता है जिससे वो जुड़ा रहता है। लेकिन केवल कोसने भर से क्या उसकी समस्या हल होती है। इसे ऐसे समझे कि एक व्यक्ति किसी हानि के लिए अपने आप को जिम्मेदार मानता है, कुछ न करता हो केवल जिम्मेदार मानता हो ऐसे में वह एक दिन चिंता से ग्रसित

होकर मानसिक रूप से खुद निर्बल बना देगा। भारत की पूरी परंपरा में भी इस तरह की एक पूरी परंपरा दिखाई देती है। जैसे ही किसी व्यक्ति को लगे कि उसकी वजह से किसी और को हानि पहुंची हैं वह व्यक्ति उसका *प्रायश्चित* करता है। यह प्रायश्चित सक्रिय प्रतिरोध है। अगर वही व्यक्ति बिना प्रायश्चित के केवल अंदर ही अंदर कुढ़ता रहेगा तब वह निष्क्रिय प्रतिरोध होगा जिससे केवल मानसिक सांत्वना तो मिलेगी किन्तु उसका बोझ हल्का नहीं होगा। इस तरह से दैनंदिन जीवन अनेकों समस्याएँ आती है जिसका व्यक्ति को सामना करना पड़ता है। यह केवल अंतर्मुखी व्यक्तित्व की समस्या तक सीमित नहीं है बल्कि वो बहिर्मुखी और मिश्रित व्यक्तित्व के लोगों पर भी प्रभाव डालता है।

गांधी ने जिस सक्रिय प्रतिरोध की बात की वह केवल बाह्य संरचना के या पर्यावरणीय कारकों से लड़ने के लिए ही उपयोग में लाने के लिए नहीं हैं। इस सक्रिय प्रतिरोध का प्रयोग उन्होंने अपने ऊपर भी किया हुआ है। गांधी अपने द्वारा होने वाली किसी भी घटना के लिए जब खुद को जिम्मेदार मानते थे तब वे उपवास पर बैठ जाते थे। उपवास गांधी के लिए केवल धार्मिक कर्मकांड मात्र नहीं था। उपवास गांधी के लिए मन-आत्मा-शरीर शुद्धिकरण का साधन था। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान इस एकीकृत शरीर को अलग-अलग बांटकर इसका इलाज करता है। गांधी को यह सही महसूस नहीं होता था।

दूसरी ओर गांधी डॉक्टरों के पेशे का इसलिए भी विरोध करते थे क्योंकि वे रोगियों को भ्रमित करते हैं। चिकित्सा विज्ञान का पूरा ज्ञान एक खास किस्म की कोडिंग के आधार पर चलता है। अमूमन डॉक्टरों द्वारा लिखी गई भाषा को शायद ही कोई पढ़ा लिखा आम व्यक्ति समझ पाता हो। इस पेशे में रत्तीभर की भी ट्रांसपरेनसी नहीं हैं। हर जगह कोडिंग में काम चलता है। बीमारियों के नाम एक ऐसी भाषा (लैटिन) में हैं जो मृतप्राय है। एक डॉक्टर मरीज को दवा खिलाकर चुटकी में ठीक कर देता है किन्तु उसे हुआ क्या है? यह बताने में उसे काफी उलझनों का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी उसके पेशेगत हित इसमें आड़े आते हैं। उस मरीज को यह तक पता नहीं होता कि उसे हुआ क्या और उसे खिलाया क्या गया? किन्तु वह ठीक हो गया है। ऐसे में जादू और इस चिकित्सा विज्ञान में क्या अंतर रह जाएगा। चिकित्सा विज्ञान अपने आप को जादूगरी जितना ही गूढ़ और रहस्यमयी बनाए रखना चाहता है! इसलिए गांधी इसके खिलाफ थे।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। मेरिलैंड के जेनेटिक एपिडेमोलॉजी रिसर्च ब्रांच, नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ मेंटल हेल्थ, बेथेस्डा में शोधरत मर्सी बार्सटेन (Marcy Burstein), लैला एमेली-ग्रिल्लों (Laila Ameli-Grillon), कैथलीन आर. मेरिकंजेस (Kathleen R. Merikangas) ने मिलकर अमेरिका के युवाओं में लज्जाशीलता बनाम सामाजिक कलंक विषय पर शोध किया है। जिसमें निम्न चीजें महत्त्वपूर्ण पाई गई हैं।

शोधकर्ताओं के द्वारा शोध के लिए तीन प्रमुख उद्देश्य बनाए गए हैं-

- किशोरों में प्रतिनिधिक रूप से लज्जाशीलता की बारंबारता एवं उसी के अंतर्गत सामाजिक भय (social Phobia) का निर्धारण करना।

- सामाजिक-जनांकिकीय विशेषताएं, प्रकार्यात्मक हीनता एवं मनोचिकित्सकीय सहरुग्णता (Co-morbidity) आदि से सामाजिक भय का क्या संबंध है, और उसका स्थान निर्धारण करना।
- सामाजिक भय एवं लज्जाशीलता से पीड़ित युवाओं में अलग-अलग निहित (prescribed) औषधियों के उपयोग के अनुपात को समझना।

शोध में राष्ट्रीय किशोर सहरुग्णता सर्वे (national Co-morbidity Survey-Adolescent) द्वारा अमेरिका के युवाओं में प्रातिनिधिक रूप से 13-18 वर्ष आयु के 10123 किशोरों का फेस-टू-फेस सर्वेक्षण किया गया।

आजीवन सामाजिक भय के आंकलन के लिए उपयुक्त WHO (वर्ल्ड हेल्थ ऑर्गनाइजेशन) के अंतर्राष्ट्रीय निदान साक्षात्कार (IDI) सूची जो पूर्णत: संरचित एवं आधुनिकृत थी, का आधार लिया गया। साथ ही युवाओं एवं उनके अभिभावकों से बातचीत कर उनके सामाजिक भय एवं लज्जाशीलता से संबंधी जानकारी एवं उसके लिए उपयोग में लायी जानेवाली दवाओं की जानकारी प्राप्त की गई है।

शोध में पाया गया कि 12 प्रतिशत युवाओं ने खुद को आजीवन सामाजिक भय एवं लज्जाशीलता के नजदीक पाया। उनके संबंधी एवं परिवारजनों से प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण के बाद यह बात सामने आई कि जो किशोर सामाजिक भय से प्रभावित रहे उनमें मनोविकार संबंधी तत्व शामिल रहे, जिसमें मनोविकृति बिमारी संबंधी अनुभव महत्वपूर्ण रहे। साथ ही चिंता की समस्या, स्वभाव, व्यवहार यह तत्व ज्यादा हावी रहे। यह किशोर और उन्हीं से जुड़े, उन्हीं के उम्र के युवाओं में निहित औषधियों के सेवन संबंधी संभावना न के बराबर रही है। अंत: निष्कर्ष में यह पाया गया कि सामाजिक भय सामान्य व्यक्ति के लज्जाशीलता से आगे बढ़ जाने के बाद मनोविकार बन जाता है। अत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक भय की परिकल्पना 'चिकित्सीयकरण' से संबंधित सवाल को आगे बढ़ाती है। (Burstein, Ameli-Grillon, & Merikangas, 2011)

यह एक शोध हैं जो अमेरिका में हुआ है। इसमें लज्जाशीलता को एक मनोविकार के रूप में प्रस्तुत किया गया। अर्थात वह 12 प्रतिशत लोग किसी न किसी तरह से चिकित्सकीयकरण से जुड़ ही जाएंगे। गांधी की आत्मकथा में हम देखते हैं कि जब वे विलायत गए थे तब लज्जाशीलता से जूझते हुए दिखाई देते हैं। गांधी अपने आप को लज्जाशीलता के लिए कोसते रहते थे। वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि

"मेरी लज्जाशीलता विलायत में अंत तक बनी रही। किसीसे मिलने जाने पर भी, जहां पाँच-सात मनुष्यों की मंडली इकट्ठा होती हो वहाँ मैं गूंगा बन जाता था (गांधी, 1957: 2016 , पृ. 57)।"

इस स्वभाव के कारण वे अपने आप को लोगों के सामने अभिव्यक्त करने में अक्षम पाते थे। जिसकी वजह से उन्हें कई बार फजीहत का सामना भी करना पड़ता है। किन्तु बाद में गांधी इसी लज्जाशीलता को वे अपनी ढ़ाल बना लेते हैं। इसके संदर्भ में वे अपने प्रयोग में लिखते हैं कि "अपने इस शरमीले स्वभाव के कारण

मेरी फजीहत तो हुई, पर मेरा नुकसान नहीं हुआ; बल्कि अब तो मैं देखता हूँ कि मुझे फायदा ही हुआ है। ...मैं शब्दों का मितव्यय करना सिख गया (गांधी, 1957: 2016 , पृ. 59)।" इस तरह वे तथाकथित कमजोरी को भी मजबूती से अपना बलस्थान बनाने में सक्षम हो जाते हैं।

गौरतलब बात यह है कि जिस तरह से मानसिक स्वास्थ्य के अंतर्गत मनुष्य की विभिन्न गतिविधियों, व्यवहारों को उपचार के लिए चिकित्सा विज्ञान के हवाले किया जा रहा है। वहाँ गांधी अपने प्रयोगों के माध्यम से एक तार्किक व्यवहार के रूप में परिभाषित करने में वे सक्षम दिखाई देते हैं। मानो गांधी स्वयं-मनोविज्ञान‡ (Auto-Psychology) जानते हों और उन्होने अपने बारे मेन स्वयं अध्ययन कर यह तार्किक निष्कर्ष निकाला हैं। एक ओर विभिन्न मेन्यूएल्स लोगों के व्यवहारों को चिन्हित कर रोग का लेबल लगा रहे हैं वहीं गांधी उस कलंक को मिटाने में खुद अपनी किस तरह से मदद की जा सकती है इसकी पूरी तार्किक प्रक्रिया बताते हैं। ऐसे में गांधी भले ही मनोवैज्ञानिक न हो या मनोचिकित्सक न भी हो किन्तु उनके विचार चिकित्सकीयकरण के इस विशाल नेटवर्क को तोड़ने में महत्वपूर्ण मदद करते हैं।

चिकित्सकीयकरण लोगों पर नियंत्रण स्थापित करना चाहता है लेकिन गांधी इसके विरोध में थे। वे फ्रायड की तरह दमन को मूल मानकर केवल मुक्त-साहचर्य (Free Asociation) की बात नहीं करते बल्कि वे जीवन में देह-दमन को भी एक साधन की तरह देखते हैं । जैसे कि वे खुद कहते हैं-

देह का दमन तब आवश्यक है जब वह हमारी आत्मा के विरूद्ध द्रोह करे। किंतु जब तक हमारे वश में आ जाए और सेवा के साधन के रूप में उसका उपयोग किया जा सके तब उसका दमन करना पाप हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो देह-दमन में स्वयं कोई नैसर्गिक गुण नहीं। (हरिजन, 2.11.1935), (सर्वोदय, पृ.19)

गांधी ने देह-दमन को नैसर्गिक गुण नहीं माना है किन्तु फ्रायड का पूरा विचार ही इस आधार पर दिखता है। गांधी छद्म-विज्ञान और मेटाफर से अलग एक तार्किक पहल करते हैं। एक वाकये से इसे समझा जा सकता है।

गांधी को भाई जयरामदास द्वारा जब आत्मकथा लिखने की बात काही गई थी तब उन्हें एक अन्य साथी के सवाल का सामना करना पड़ा था। वह सवाल काफी महत्वपूर्ण था जिसे गांधी ने अपनी आत्मकथा की प्रस्तावना में शामिल किया है। सवाल यह था कि "...आप उसमें लिखेंगे क्या? आज जिस वस्तु को आप सिद्धान्त के रूप में मानते हैं, उसे कल मानना छोड़ देंगे तो? अथवा अनुसरण करके जो भी कार्य आज आप करते हैं, उन सभी कार्यों को बाद में हेरफेर करें तो? बहुत से लोग आपके लेखों को प्रमाणभूत समझकर उनके अनुसार अपना आचरण गढ़ते हैं। वे गलत रास्ते चले जाए तो? इसलिए सावधान रहकर फिलहाल आत्मकथा जैसी कोई चीज न लिखें, तो क्या ठीक न होगा? (गांधी, 1957: 2016 , पृ. IV)" इस तर्क का गांधी पर काफी गहरा असर हुआ, लेकिन गांधी अपने आप को समझाते हैं कि *...मुझे आत्मकथा कहाँ लिखनी है? मुझे तो*

---

‡ **स्वयं अपने द्वारा स्वयं का किया गया मनोवैज्ञानिक अध्ययन या विश्लेषण।**

आत्मकथा के बहाने सत्य के जो अनेक प्रयोग मैंने किए हैं, उनकी कथा लिखनी हैं। ...अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का जिन्हें मैं ही जानता हूँ और जिनके कारण राजनीति के क्षेत्र में मेरी शक्ति भी जन्मी हैं, इसका वर्णन करना मुझे अवश्य ही अच्छा लगेगा (गांधी, 1957: 2016 , पृ. IV)। साथ ही उनका कहना था कि जो एक के लिए शक्य है वह बाकी के लिए भी शक्य हैं।

लेकिन दूसरी ओर चिकित्सकीयकरण एकदम विरोधाभासी नजर आता है। उसमें न तर्क न प्रयोग केवल लोगों द्वारा किए गए वर्णनों के आधार पर अमेरिकन मनोचिकित्सकीय संस्थान रोगों का लेबलीकरण करता हुआ दिखाई देता है। ऐसे में इस पूरे नेटवर्क को ध्वस्त करने में गांधी ही प्रासंगिक नजर आते हैं।

संदर्भ :-

Fukuyama, F. (1992). *The End Of History and The Last Man.* New York: The Free Press, A Division of Macmillan Int.

Gandhi, M. K. *Hind Swaraj or Indian Home Rule.* (J. T. Desai, Ed.) Ahmadabad: Navajivan Publishing House and https://www.mkgandhi.org/ebks/hind_swaraj.pdf.

Khattri, P., & Joshi, P. (2015, March 07). Bio-medicalization and Gandhi's Vision of Health. *Economic and Political Weekly*, 53-58.

Sehgal, C. (2007, July). *Medical technology Industry in India: Riding the Growth Curve.* Retrieved May 18, 2016, from https://www2.deloitte.com: https://www2.deloitte.com/content/dam/Deloitte/in/Documents/life-sciences-health-care/in-lshc-medical-technology-in-India-noexp.pdf

Sharma, S., & Suhrud, T. (2010). *M.K. Gandhi's Hind Swaraj : a critical edition.* (S. Sharma, T. Suhrud, Eds., S. Sharma, & T. Suhrud, Trans.) Banglore: Orient Blackswan.

Zeng, H. (2011). *Duke Dessertations*, Ph-D. Dessertation. Retrieved June 15, 2016, from dukespace.lib.duke.edu: https://dukespace.lib.duke.edu/dspace/handle/10161/3947

गांधी, एम. के. (1957: 2016). *मेरे सत्य के प्रयोग* . (क. त्रिवेदी, Trans.) अहमदाबाद: नवजीवन प्रकाशन.

गांधी, एम. (1955). *सर्वोदय*.(कुमारप्पा भारतन (सं.)) अहमदाबाद: नवजीवन ट्रस्ट

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

नयी कविता में मानव जीवन के विविध पक्ष और आधुनिक जीवन बोध

डॉ. महेश चन्द गुप्ता*

m.gupta74@gmail.com

शोध सार

नयी कविता में मानवीय जीवन के विविध पहलुओं को उजागर करने की कोशिश की गई है। यह कविता मानवीय पक्षों को लेकर कविता रची गई है। साथ ही नई कविता आधुनिक जीवन बोध से हमें रूबरू कराती है। नई कविता ने लोक-जीवन की अनुभूति, सौंदर्य-बोध, प्रकृत्ति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर अंगीकार किया। साथ ही साथ लोक-जीवन के बिंबों, प्रतीकों, शब्दों और उपमानों को लोक-जीवन के बीच से चुनकर उसने अपने को अत्यधिक संवेदनापूर्ण और सजीव बनाया। कविता के ऊपरी आयोजन नई कविता वहन नहीं कर सकती। नई कविता वाद-मुक्ति की कविता है। इससे पहले के कवि भी प्रायः किसी न किसी वाद का सहारा अवश्य लेते थे। और यदि कवि वाद की परवाह न करें, किन्तु आलोचक तो उसकी रचना में काव्य से पहले वाद खोजता था-वाद से काव्य की परख होती थी। किन्तु नयी कविता की स्थिति भिन्न है। नया कवि किसी भी सिद्धांत, मतवाद, संप्रदाय या दृष्टि के आग्रह की कट्टरता में फँसने को तैयार नहीं। नयी कविता कोई वाद नहीं है, जो अपने कथ्य और दृष्टि में सीमित हो। कथ्य की व्यापकता और सृष्टि की उन्मुक्तता नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। संवेदना के माध्यम से जीवन में आयी हुई आंतरिकता और निरर्थकता के बोध को हटाना चाहता है।

अध्ययन का उद्देश्य

नयी कविता का कैनवास काफी विस्तृत है, जो इसके लोकतांत्रिक और मानवीय होने का प्रमाण है। इस अध्ययन में केवल मानवीय जीवन के विविध पक्षों और आधुनिक जीवन बोध की पर्याप्त जानकारी एक स्थान पर उपलब्ध कराना है। नयी कविता में समाज के सभी वर्गों और समुदायों को समाहित किया गया है, जो अब तक अपनी अभिव्यक्ति के लिए अवसर की तलाश कर रहे थे, जिसने जीवन के संघर्ष को केंद्र में रखकर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। नयी कविता में मानवीय मूल्यों का चित्रण सरलता के साथ किया है। इन कविता की भाषा किसी एक पद्धति में बंधकर नहीं चलती। सशक्त अभिव्यक्ति के लिए बोलचाल की भाषा का प्रयोग इसमें अधिक हुआ है। नई कविता में केवल संस्कृत शब्दों को ही आधार नहीं बनाया है, बल्कि विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्वीकार किया गया है। इस अध्ययन में हमने सभी पहलुओं का गहन चिंतन-मनन करने की कोशिश की है।

---

* **89, पत्रकार कॉलोनी, मानसरोवर, जयपुर, राजस्थान. पिन 302020**

साहित्य की समीक्षा

नयी कविता हिन्दी साहित्य में सन् 1959 के बाद की उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परंपरागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। यह प्रयोगवाद के बाद विकसित हुई हिन्दी कविता की नवीन धारा है। नयी कविता अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट है। नये कवि अपने व्यक्तित्व पर भरोसा करते हैं। वे कठिन से कठिन विपदा में भी अपनी आस्था के बल पर उसे सहने एवं दूर करने का भाव रखते हैं। भविष्य की उज्जवलता पर उनका दृढ़ विश्वास है। जीवन के यथार्थ पक्ष को भी वे इसी दृष्टि से देखते हैं। नयी कविता में व्यक्ति, समाज और युग तीनों की विषम-दयनीय स्थितियों पर व्यंग्य किए गए है। अज्ञेय की 'साँप' और भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' जैसी कविताओं में मानवीय असामंजस्यों की चिन्तनीय स्थिति का चित्रण किया गया है। व्यंग्य के जरिए वे समाज को बदलना चाहते हैं, नैतिकता में सुधार लाना चाहता है।

मुख्य पाठ

नयी कविता की आत्मा है आधुनिक जीवन बोध। कहने का तात्पर्य यह है कि नयी कविता में मानवीय जीवन के विभिन्न पहलू बहुतायत में देखने को मिलते हैं। नए कवियों ने अपनी कविताओं का मूल विषय मानव जीवन से जुड़े उन सभी पहलुओं को बनाया है।

मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' में लिखा है "आज का सुशिक्षित मनुष्य अपने परिवेश, परिस्थितियों से जो संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है। वे संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ या उनका सामान्यीकरण नयी कविता में प्रकट होता है। ऐसे सुशिक्षित मनुष्य का दृष्टिकोण मध्ययुगीन धार्मिक दृष्टि से अनुप्राणित अथवा छायावादी भावुकता से परिपूर्ण कल्पना प्रधान (मैं दृष्टिकोण की बात कर रहा हूँ) नहीं होता है। विज्ञान के इस युग में उसकी दृष्टि यर्थोन्मुख तथा संवेदनशील होती है। वह इस यथार्थ सम्बन्धों को ग्रहण कर यथार्थ बोध द्वारा संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है।"[1]

विज्ञान के सम्पर्क से वह अपने अंधविश्वासों, निर्मूल धारणाओं, मान्यताओं और विचारों से मुक्त हो गया है। फलतः मनुष्य ने एक नयी दुनिया की रचना का जैसा बीड़ा उठा लिया है। अब काम, क्रोध, मद लोभ जैसे सूत्रों से वह जीवन पद्धति को मूल्यांकित करने के स्थान पर सार्थकता की खोज में बुद्धि को दौड़ा रहा है। भौतिकवादी दृष्टिकोण ने उसके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक राजनीतिक, सांस्कृतिक जीवन में जो परिवर्तन उपस्थित किये हैं वे नये हैं। नयी कविता का कवि इस परिवर्तन से उत्पन्न नवीन परिदृश्यों से परिचित है। इसलिए नयी कविता आधुनिक जीवन बोध व्यक्त करने वाली स्वस्थ काव्यधारा के रूप में विकास के मार्ग पर अग्रसर है। नया कवि किसी वाद विशेष का आग्रही नहीं है फलतः उसकी अभिव्यक्ति तटस्थ दृष्टा की ही नहीं सामयिक परिस्थितियों के भोक्ता की भी है। यहाँ नयी कविता में प्राप्त मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं और आधुनिक जीवन बोध को प्रस्तुत करना उचित होगा।

राजनीति, राजव्यवस्था एवं राष्ट्रीयता

धर्म और अर्थ की भाँति राजनीति भी जीवन को संचालित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण घटक है जिसका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप हर युग में जीवन को प्रभावित करता रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय राजनीति ने एक व्यवसाय का रूप धारण कर लिया। नैतिकता और मानव कल्याण से प्रेरित राजनीति लुप्त हो गई इससे राजनीतिक क्षेत्र का पतन शुरू हुआ। धीरे-धीरे चुनाव नीति से राजनीति प्रेरित होने लगी। एक हाथ से कथित तौर पर व्यक्ति को स्वतंत्रता प्रदान की गई तो दूसरे छीन ली गई। देश के कर्णधार देश और प्रजा से अलग-अलग अपनी स्वार्थ पूर्ति में व्यस्त हो जाते हैं। शकुन्तला माथुर ने लिखा है-

"सजा है । रेशम के पर्दों से ड्राईंग रूम सोड़े से, फिनील से / और गरम पानी से धुल रहे बाथरुम / टावेल रुएँ का हाथ लाण्ड्री धुला गोरा / कोठी से निकल रहा बेरा चपरासी कसे बेल्ट / सेकेट्री लिए डायरी गेट पर कार खड़ी / लोगों का इन्तजार कौन आ रहा है? लीडर आ रहा ॥"[2]

यह लीडर राजनीति का केन्द्र है जिसने समूची व्यवस्था को अपने सुख भोग एवं स्वार्थपूर्ति के अनुकूल बना लिया है। नयी कविता ने मानव जीवन के इस बिखराव और दिशाहीनता को उजागर किया है। इस दिशाहीन देश में जन सामान्य पर जैसे कहर टूट पड़ा है-

"मेरा बेटा मर चुका है और मेरी बेटी आपके अस्पताल में जिस समय वह दबोच ली गई थी उस समय वह कई दिनों के भूखे बछड़े के मुख की जाली खोल रही थी।"[3]

हमारा लोकतंत्र भीडतंत्र बन गया। इस भीड़ में कार्यकर्ता, डाक्टर, सम्पादक, पत्रकार, प्राध्यापक, वकील, नेता, मंत्री, प्रधानमंत्री, अफसर, चपरासी, सिपाही, ड्राईवर जनता, विधायक, छात्र कुलपति सबके चेहरे एक से हो गये हैं-

"नाम कहाँ तक याद रखूं लोगों को उनकी तोंद से जानता हूँ।"[4]

भीड का चरित्र भेड़चाल का है, उसे जिधर हाकों हक जाती है। यही कारण है कि लगभग तीस वर्ष की स्वतंत्रता लोकतंत्र के नाम पर स्याह हो गई और लोकतांत्रिक व्यवस्था के लाभ की बात तो दूर हम उसके अर्थ तक नहीं पहुँच पाये हैं।

"वह बंद कमरा / सलामी मंच है
जहाँ मैं खड़ा हूँ
पचास करोड़ आदमी खाली पेट बजाते
ठठरियाँ खडखड़ाते
हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं
बदबू आती है हर बार
झाँकियाँ निकलती है / ढोंग की विश्वासघात की
बदबू आती है हर बार,एक मरी हुई बात की

लोकतंत्र को जूते की तरह लाठी में लटकाएँ / भागे जा रहे हैं सभी सीना फुलाए।"[5]

यद्यपि नया कवि राजनीति और असफल लोकतंत्र से विक्षुब्ध है तथापि अपने देश के प्रति राष्ट्रीयता के प्रति उसमें लगाव है। जब देश का विभाजन हुआ तो कवि भी जैसे आहत हुआ।

"याद आता घर / गली चौपाल, कुत्ते, मेमनें, मुर्गे, कबूतर नीम तरु पर / सूखकर लटकी हुई कड़वी तुरई की बेल

टूटा चौतरा / उखड़े ईंट पत्थर बेधुली पोशाक पहने गाँव के भगवान मंदिर / मूर्ति बनकर याद की घर लौटने की लालसा मन में जगाते ॥[6]

एक शरणार्थी की अपनी धरती के प्रति यह ललक उसके राष्ट्र प्रेम को व्यक्त करती है जिसे क्षुद्र स्वार्थ प्रेरित राजनेताओं ने खंडित करने का ऐतिहासिक प्रयास करते हुए इस देश को भारत पाकिस्तान में बाँट दिया था। यह बंटवारा धरती का नहीं उसकी आत्मीयता का था। इसी महान राष्ट्र की कवि आरती उतारता है-

"भारती की आरती देश-देश की स्वतंत्रता देवी आज अमित, प्रेम से उतारती। निकट पूर्व, पूर्व-पूर्व दक्षिण में जन गण मन इस अपूर्व शुभ क्षण में गाते हैं घर में हो या रण में भारत की लोकतंत्र भारती ॥"[7]

यह राष्ट्रीयता का भाव भारतेन्दु, द्विवेदी एवं छायावादी काव्य चेतना से भिन्न किस्म का है दुनिया छोटी होती जा रही है। राष्ट्रीयता के भाव अन्तर्राष्ट्रीयता से अलग नहीं किये जा सकते हैं। नयी कला, नयी कविता स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु हो गई है किन्तु अपनी भूमि और अपने देश की मिट्टी में रंग कर ही विश्वात्मक हुआ जा सकता है नहीं तो नहीं।

नगेन्द्र ने लिखा है "नया कवि इस सत्य को जानता है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति जहाँ उसमें आग्रह है वहाँ अपनी धरती के प्रति प्रेम है। वैसे भी देश भक्ति व्यक्तिपरक न होकर एक समष्टिपरक भाव है अर्थात जब मनुष्य की रागवृत्ति का विस्तार होता है तो वह अपने व्यक्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम नगर फिर प्रदेश-देश और इसके आगे विश्व तक व्याप्त हो जाता है।[8]

आर्थिक जीवन एवं व्यवस्था

भौतिकवाद एवं विज्ञान ने हमारे आर्थिक जीवन की चूलें हिला दी है। अर्थ अब हमारे चिन्तन का केन्द्र बिन्दु बन गया है। वर्तमान सभ्यता औद्योगिक सभ्यता है। औद्योगिक सभ्यता यांत्रिक सभ्यता है जिससे मानव सिर्फ एक पुर्जा है इससे ज्यादा कुछ नहीं। यह सभ्यता मानव व्यक्तित्व का हनन करती है उसका नाश करती है। मानव आत्मा का और मानव व्यक्तित्व का उद्भास और विकास उसमें नहीं होता है। मुक्तिबोध ने लिखा है "समाजवादी और पूँजीवादी दुनिया में अन्तर केवल यह है कि पूँजीवादी दुनिया में व्यक्ति को चीखने चिल्लाने का अधिकार है किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी है कि वह अपना विकास नहीं कर सकता यद्यपि साम्यवादी दुनिया में तानाशाही के कारण वहाँ व्यक्ति स्वातंत्र्य के अभाव में व्यक्ति-विकास का प्रश्न ही नहीं उठता। यानी कि इस सवाल पर चौतरफा नजर डालने पर यही साबित होता है कि व्यक्ति की आत्मस्थिति अर्थात व्यक्ति के

स्वभाव की भाँति ही उसकी वाह्य स्थिति और परिवेश निराशाप्रद है और आत्मिक तथा ब्राह्मगत दोनों दृष्टियों और क्षेत्रों में यह जो दुख और निराशा है। वह मूलभूत अनिवार्य और अटल है। मनुष्य की इससे उबरने की कोशिश केवल एक मानसिक बहलावा है इससे अधिक कुछ नहीं।

नयी कविता इसी प्रकार प्रतीकों के माध्यम से आधुनिक जीवन की आर्थिक विषमताओं, विसंगतियों एवं विवशताओं को व्यक्त करती है-

"वह जमीन से निकलता है और सीधे

बाजार में चला जाता है

वह बाजार में ले आता है आग और बाजार जब सुलगने लगता है वह बोरों के अंदर उछलना शुरू करता है वह चाकू पर गिरने के लिए तत्पर हर नमक में घुलने के लिए तैयार ।।"[9]

साम्यवादी प्रभाव होने के कारण मध्य एवं निम्न वर्ग के प्रति नये कवि की भी पूरी सहानुभूति है। आर्थिक विषमता का जितना शिकार मध्यवर्गीय जीवन है उतना अन्य कोई नहीं। यहाँ तक की अन्ततः इस विषमता से लड़ते-लड़ते वह क्रामिक मरीज हो जाता है-

"पीले दाग लगे घिसे / बिगड़े इस अंक पर वक्त रुक गया है। सुई आगे न सरकती है ठहरे है घडी, पल / बंद है सेंकिण्ड, मिनट घंटे, दिन, हफ्ते, महीने, वर्ष सदियाँ सौ-सौ बरस जब / एक-एक डग में पार किए जाती है, नई स्वस्थ दुनिया!" 10

इस पूँजीवाद के विरुद्ध मुक्तिबोध के काव्य ने नयी कविता में क्रांति चेता की भूमिका अदा की है। उनके अनुसार पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता। उनकी मान्यता है कि "पूँजीवादी शक्तियाँ जनता को दमन की फासिस्ती भट्टी में झोंककर उनकी अस्थियों से आराम का फर्नीचर बनाना चाहती है। वे शासन के चाकू से उसकी विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखों को काट कर निकाल देना चाहती है।" इसलिए कवि उस सत्ता का विरोध करता है और उसके तिलिस्मा को नष्ट कर देना चाहता है-

नयी कविता और संस्कृति

जब कवि ने आत्मानुभूति के लिए व्यक्ति सत्य और युग सत्य के समन्वित बोध की माँग की तो उसने पाया कि "पुरानी मर्यादाएँ, पुराने मूल्य, पुराने प्रतिमान, पुराने प्रतीक उसके मानसिक आलोडन को चित्रित करने में असमर्थ है। इसलिए वह परम्परागत कला, धर्म, नीति दर्शन सभी से मुक्त है। बंधी है तो केवल मानव मूल्यों से। मानव जीवन की नई व्यवस्था के लिए कवि नये उपकरण जुटा रहा है। कहना तो यह चाहिए कि आज उसके लिए कुछ भी बजनीय नहीं है। कविता को कविता बनाए रखना ही उसका मुख्य लक्ष्य है। निश्चित ही परिस्थिति जन्य इस क्षुब्धता ने नये कवि को प्रभावित किया है। इसलिए उसके चिन्तन के सारे तार झनझना गये हैं। फलतः वह सब कुछ उलट पुलट कर देना चाहता है। करण, उत्तराधिकार में प्राप्त सांस्कृतिक मूल्यों से वह अपनी रक्षा करने में असमर्थ पा रहा है। मूल्य अब उसे यह उष्मा प्रदान नहीं कर पाते हैं जिसकी उसे नितांत आवश्यकता है। फिर भी वह अपनी संस्कृति से कटा नहीं है

"धरती को कहीं से छुओं एक ऋचा की प्रतीति होती है।
तुम जिसे पेड़ कहते हो
वह मात्र पेड़ ही नहीं
एक वानस्पतिक श्लोक है। [11]

वह उदात्तता हमारी संस्कृति का अभिन्न तत्त्व है। वेद की यही वाणी है। धरती के कण कण में परमसत्ता का अस्तित्व है। वह वाणी युगों-युगों तक हमारी संस्कृति में गूँजती रही है जिसका प्रयोग बदलते संदर्भों में नये कवि ने किया है। इससे उसने स्वयं को अपनी जमीन से कटने से बचा लिया है-

"देवताओं की देह यष्टि / क्या उपनिषदीय नहीं लगती ? तुम्हें नहीं लगता कि / इन भोजपत्रों में एक वैदिकता है । जिसका साक्षात नहीं किया गया है।

मुक्तिबोध के कई कथन नये कवियों के लिए सांस्कृतिक सूत्र है इस सूत्र की व्याख्या भी नयी कविता में प्रस्तुत है जिसको हम सांस्कृतिक संदर्भ में नयी कविता का आधुनिक बोध कह सकते हैं। सांस्कृतिक आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में नयी कविता की उदात्तता विश्व बंधुत्व, अहिंसा और इतिहास की पुर्नव्यवस्था को रेखांकित किया जा सकता है। अपने समय के प्रति कवि समर्पित है।

"मेरी भाषा / मेरे शब्द और
मेरी रचना / इन्हें में समय को वैसे ही देख देना चाहता हूँ जैसे कि वृक्ष / फूलों को अनाम दे देते हैं।"[12]

कवि की इस भावना के पीछे उसका आधुनिक सांस्कृतिक बोध ध्वनित हो रहा है। इस यंत्र युग में जब प्राप्ति पर दृष्टि केन्द्रित है। अपने आधुनिक भावबोध के कारण नयी कविता की एक अलग संस्कृति विकसित हुई जिस पर भारतीय संस्कृति से अधिक पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नयी कविता व्यक्तिनिष्ठा को विशेष महत्त्व देती है। व्यक्ति वेशिष्ट, व्यक्ति-निष्ठा और व्यक्ति की स्वानुभूति से ही कला चेतन स्वरूप लेती आयी है। इस महत्व को नयी कविता का कवि जानता है। वह व्यक्तित्व हीनता को मानव का घोर अपमान मानता है नयी कविता में मानव जीवन के प्रति अटूट आस्था है। यह जीवन व्यक्ति का हो या समाज का, जीवन के रूप में उसे देखने की प्रबल निष्ठा नयी कविता की प्राण शक्ति है।

भारतीय संस्कृति की धुरी आध्यात्म है। इसी बिन्दु से चलकर हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण ने पाप-पुण्य, धर्म, लोक परलोक, पुनर्जन्म, परोपकार दया, करुणा एवं बंधुत्व जैसे जीवन मूल्यों की स्थापना की थी। इसके ठीक विपरीत नये कवि के जीवन का केन्द्र भौतिकवाद है। वस्तुवादी दृष्टिकोण के कारण उसने सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यगत तोड़-फोड़ करते हुए नये मूल्यों की स्थापना कर डाली है। व्यक्ति, व्यक्तित्व, जीवन एवं वर्तमान के प्रति आस्था उसके इन परिवर्तित मूल्य बोध को व्यक्त करती है जिस पर आशा-निराशा पीड़ा-कुण्ठा आदि की गिरती हुई स्याह छायाँ भी स्पष्ट दिखाई देती है।

धर्म और ईश्वर

आधुनिक जीवन बोध की दृष्टि से नयी कविता में धर्म और ईश्वर सम्बन्धी प्राचीन मान्यताएँ खण्डित हो चुकी है। गाँधीवाद धर्म और ईश्वर में विश्वास व आस्था की घोषणा करता है। आंशिक रूप से गाँधीदर्शन का

प्रभाव नयी कविता में देखा जा सकता है। परन्तु गाँधी की ईश्वर एवं धर्म सम्बन्धी मान्यता से नया कवि किंचित भी प्रभावित नहीं है। नया कवि मार्क्सवादी वर्णन से प्रभावित है और वह एक सर्व विदित सत्य है कि मार्क्सवाद में धर्म और ईश्वर के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः धर्म, ईश्वर, पुनर्जन्म, स्वर्ग नरक जैसी मान्यताओं की समाप्ति में वैज्ञानिक आविष्कारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है जहाँ मार्क्सवाद मानव को धर्मभीरु होने से बचाता है वहाँ विज्ञान उसको तार्किक बनाता है। परिणाम सामने है कि हमारी मौलिक आध्यात्मिक जीवन पद्धति का ढाँचा चरमरा गया है-

जीवन की नियति बनी / दुख की अनुभूतियाँ आसन पड़े रहे। टूट गयी मूर्तियाँ बुझी, अधबुझी, जली / पांत बढ़ी वर्षों की होम की भभूत बनी / कष्ट की विभूतियाँ।"[13]

नयी कविता में मानव मंगल की कामना उसकी शक्ति में निहित है। नयी कविता शिवत्व की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील है। इस सिद्धि में उसका ईश्वर है मानव और धर्म है मानवतावाद। इसीलिए नया कवि लिखता है-

"हमारे लिए मनुष्य मात्र / हमारे लिए गंध मात्र हमारे लिए रंग मात्र / वेद पाठ है यज्ञ ध्वनि है। उत्सव ज्ञान है।

कभी अपनी वैयक्तिकता को / इतनी विशाल स्वर लिपि में बजने दो बंधु।।"[14]

ईश्वर के प्रति भक्ति एवं समर्पण का जो भाव भक्तिकालीन साहित्य में देखने को मिलता है, ठीक उसके विपरीत नया कवि ईश्वर को कोसता है क्योंकि नये कवि के अनुसार इस ईश्वर ने उसे बार बार छला है, धोखा दिया है-

रघुवीर सहाय ने लिखा है-

"लोगों, मेरे देश के लोगों और उनके नेताओं। मैं सिर्फ एक कवि हूं
मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता।
न उसके साथ खाने के लिए गम। न मैं मिटा सकता हूँ ईश्वर के विषय में तुम्हारा भ्रम।।"[15]

नये कवियों जैसी सजग आत्मचेतना शायद ही किसी युग के कवि में रही है। अपने स्वत्व के प्रति इतना चिन्ताग्रस्त वह कभी नहीं रहा। वह नये युग मानव को सारी रूढ़ियों और मान्यताओं से मुक्ति दिलाने का आग्रही है। वह ईश्वर की चिन्ता से मुक्त है। अपने को ही अपने पाप-पुण्यों का निर्णायक मानता है। इसके लिए विश्व नियंता के दण्ड पाश में बंधकर अपने अपकर्मों का प्रायश्चित उसे स्वीकार्य नहीं।"

नये कवि की धर्म में कोई आस्था नहीं है। वह अंध धार्मिकता के पाश को तोड़ चुका है। विज्ञान, अस्तित्ववादी एवं व्यक्ति स्वातंत्र्य वादी जीवन दर्शनों ने धर्म का लोप कर दिया है। इसलिए नया कवि धर्म की न सिर्फ उपेक्षा करता है बल्कि उसका मखोल उड़ाता प्रतीत होता है-

"मेरा धर्म निश्चित कर दिया गया है
मैं कृष्ण या ईसा, बुद्ध या शंकर मूसा या मुहम्मद

किसी के शब्दों के साथ / मूर्ख बन सकता है।"[16]

निष्कर्षतः नयी कविता ने विज्ञान अस्तित्वाद एवं मार्क्सवादी धारणाओं को आत्मसात करते हुए धर्म और ईश्वर दोनों शक्तियों को नकार कर उसके स्थान पर व्यक्ति सत्ता को प्रमुखता दी है।

नारी, प्रेम और रूप चित्रण

नारी, प्रेम एवं रूप चित्रण के अनेक चित्र नयी कविता में अनेक स्थानों पर दिखाई देते हैं परन्तु इनसे सम्बन्धी मध्ययुगीन बोध से कवि ने मुक्ति प्राप्त करते हुए आधुनिकता का परिचय दिया है। नये कवि ने न तो नारी को नरक का द्वार माना है और न ही स्वर्ग की अप्सरा। नारी उसकी जीवन संगिनी है जो जिन्दगी में उसके साथ-साथ खटती है पिसती है। नारी के बारे में धर्मवीर भारती ने लिखा है-

"तुम्हारा मन अगर सींचें / गुलाबी तन अगर सींचू। तरल मलयज झकोरों से / तुम्हारा चित्र खींचू / प्यास के रंगीन डोरों से महज इससे किसी का प्यार / मुझ पर पाप कैसे हो ।।"[17]

परन्तु नयी कविता की नारी प्रियतमा ही नहीं, घरवाली के रूप में भी चित्रित हुई। नयी कविता में अतियथार्थ वादी यौन प्रतीकार्य व्यक्त करती रचनाओं को छोड़ दिया जाए तो नथी कविता में नारी का सहज, सरल, सुंदर, ममतामयी, प्रियतमा और जन्म जन्मान्तर की रहस्यमयी लीला की एकांत संगिनी रूप ही व्यक्त हुआ है।

प्रेम

प्रेम सम्बन्धित पारम्परिक दृष्टिकोण में आई आधुनिकता कवि को नये सिरे से प्रेम को परिभाषित करने के लिए बाध्य करती है। प्रेम के संदर्भ में कवि का आधुनिक जीवनबोध उन चित्रों में साकार हो उठा है जब वह उसको प्राकृतिक आवश्यकता एवं वायवी रूप में प्रस्तुत करता है विशद्ध मांसलता के साथ यही नहीं, इस संदर्भ में वह पाप पुण्य के तराजू को अलग उठाकर रख देता है।

स्पष्टतः कवि ने इस धारणा को नकार दिया कि प्रेम उसे पतित करता है यही नहीं अपने आधुनिक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए वह लिखता है-

"प्यार मेरा / प्लास्टिक पुष्प
न मुरझाए। न उदसाये ।।"[18]

नयी कविता में उजले, कोमल, पारदर्शी प्यार और मिलन का वर्णन भी हुआ है जिसका आस्वादन ताजगी से भर देता है।

चूँकि नयी कविता में क्षण विशेष का महत्त्व है। कवि ने प्रेम के संदर्भ में भी अनुभूति के किसी क्षण विशेष को शब्दांकित करने का प्रयास किया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नये कवि के प्रेम में तप्त प्रेम, अतृप्त प्रेम, उदात्त प्रेम, शक्तिवर्द्धक प्रेम और मांसल प्रेम को रेखांकित किया जा सकता है।

सौन्दर्य

नये कवियों ने अपने स्तर सौन्दर्य को रेखांकित किया है। आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुंठित है। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके उपमान सब यौन-प्रतीकार्य रखते हैं। नयी कविता में यह सौन्दर्य बोध अज्ञेय से शुरू होकर श्रीराम वर्मा तक देखा जा सकता है। नये काव्य में कवि का सौन्दर्य बोध नारी सौन्दर्य के रूप में अधिक प्रतिबिम्बित हुआ है। उसके अंग-अंग को कवि नई दृष्टि से रूपायित करने प्रयास करता है। यही उसका रूप सम्बन्धी आधुनिक बोध है।

"सुंदर / उठाओ / निज वक्ष और कस उभर / क्यारी भरी गैंदा की / स्वर्णरक्त क्यारी भरी गैंदा की ।।"[19]

यह सौन्दर्य चेतना पारम्परिक काव्य की सौन्दर्य चेतना से कही आगे की यात्रा की सूचना देती हैं। सौन्दर्य के रूढ़िगत प्रतिमान कवि के लिए अब आकर्षण बिन्दु नहीं रह गये हैं। आज यदि वह अपनी प्रियतमा को 'ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका', 'शरद के भोर की निहार न्हायी हुई टटकी कली चम्पे की' इत्यादि नहीं कहता है तो इसका कारण यह नहीं कि उसका हृदय उथला या सूना है या कि उसका प्यार मैला है बल्कि उसकी दृष्टि में आज ये सारे उपमान ही मेले होकर अर्थहीन हो गये हैं इसलिए वह प्रिया को बाजरे की लहलहाती कलंगी कह रहा है। रूप चित्रण में आए आधुनिक बोध को इन पंक्तियों में भी देखिए-

"तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास ज्यों किसी गुलाबी दुनिया में सूने खंडहर के आस-पास मदभरी चाँदनी जगती हो…" 20

मानवतावाद

नये कवि का आधुनिक जीवन बोध मानवतावाद की स्थापना करता है। "आज जिस युग में हम जी रहे हैं यह युग ही बोनों का युग है। आज जब हम मनुष्य को मनुष्य रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे तो निश्चय ही हमारी दृष्टि में 'सुपरमैन' या 'अधिनायक' का रूप न आकर उस व्यक्ति का रूप रंग आएगा जो अपनी लघुता को लिए हुए अपने लघु परिवेश में सतत गतिशीलता के साथ अपनी दृष्टि और वाणी में आज भी अपने प्रति आस्था जीवित रखते हैं। आज इस मानव और इसकी अवस्था के अन्वेषण की आवश्यकता इसलिए है कि इतिहास के 'सुपरमैन' या जनसत्ता के अधिनायक अथवा देवदूत या मसीहा ने अपनी समस्त महानता को लघु मानव की बलि देकर ही अपनाया है। क्योंकि, मानव सभ्यता चोटी की स्थापनाओं से नहीं वरन् बुनियाद, स्थापनाओं द्वारा विकसित होती है और इन बुनियादी स्थापनाओं में लघु मानव का स्थान है। 126 नयी कविता में इस लघु मानव के प्रति कवि हृदय में अपरिमित सहानुभूति व प्रेम है। उसके मस्तिष्क में यह प्रश्न बार-बार गूंजता है-

"समस्या एक / मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों की सभी मानव / सुखी, सुन्दर व शोषण मुक्त कब होंगे?"[21]

नया कवि नाटकीय जीवन जी रहे मानव के प्रति सहानुभूति एवं प्रेम से ही नहीं भरा, उसकी शक्ति में उसको विश्वास है कि एक दिन वह लोह श्रृंखलाओं को तोड़कर खुले में, सुख की सांस ले सकेगा।

मानवतावाद की पुष्टि के लिए नये कवि ने युद्धों का विरोध करके शांति एवं बंधुत्व को उजागर करने का प्रयास किया है। नयी कविता में युद्ध विरोधी स्वर प्रबल है। नयी कविता का मूलाधार मानव वैशिष्ट और आस्थामूलक जीवन दर्शन है। इसकी उपलब्धि वैयक्तिक सत्य की अभिव्यक्ति और स्वत्व रक्षण की प्रबल चेतना है।

नयी कविता में वातावरण और प्रकृति :

नया कवि अपने परिवेश की ही उपज है। अतः वातावरण के प्रति यदि उसमें जागरूकता मिलती है तो वह आश्चर्यजनक नहीं है। भाव जीवन के अन्तरंग सत्य की गरिमा है। वह व्यक्ति के अस्तित्व का विशिष्ट रूप ही नहीं स्वयं अस्तित्व है। बाह्य जगत के सम्पर्क से प्राप्त सम्यक प्रेरणा द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है।

आज का युग विज्ञान का युग है। औद्योगिकता ने भौतिकवादी व्यवस्था को सर्वोच्च बना दिया है जिससे वातावरण विषाक्त हो उठा है। देश, बस्ती, गाँव, कस्थों और शहरों में विभक्त हो गया है। इनमें शहर आगे आकर हमारे जीवन के प्रमुख अंग बन गये हैं। हमारा आधुनिक जीवन इन्हीं महानगरों का जीवन है जहाँ भीड़ आपाधापी, झूठ, स्वार्थ और एक अन्तहीन दौड़ में आदमी जैसे फंस गया है-

"धक्के इतने लगे भीड़ के कि सब पवित्र संस्कार दूध के दांतों की तरह झड़ गये।"[22]

उसने भीड़ के धक्के ही नहीं खाए महानगर की व्यस्तता को भी देखा है कि किसी को दम लेने का अवकाश भी नहीं है-

"सड़कें, शोरगुल, धूल काँटो बार का जुनून पहिए, पैर, चिमनियाँ बाहर की व्यस्त दुनिया ।।

प्रकृति

नयी कविता में प्रकृति भी अनेक रूपों में दिखाई देती है नयी कविता अनन्त मानवीय संवेदनाओं का प्रतिफलन है। प्रसिद्ध साहित्य मनीषी गुलाबराय ने प्रकृति की निम्नलिखित विधाओं का उल्लेख किया है (1) आलम्बन (2) उद्दीपन (3) अलंकार (4) उपदेश ग्रहण (5) मानवीकरण (6) ईश्वर सत्ता की अभिव्यक्ति का माध्यम।

इसी तरह 'फागुन की एक शाम' कवि के अन्तर मन को झकझोर कर सुप्त प्रणय जगा देता है-

"घाट की सीढ़ी तोड़-तोड़कर बन तुलसा उग आयी झुरमट के छत जल पर पड़ती सूरज की परछाई तोता पंखी किरणों में हिलती बाँसों की टहनी यही बैठ कहती थी तुमसे सब कहती-अनकहती ।।"[23]

आधुनिक जीवन की अपनी विडम्बनाएँ है। व्यक्ति का जीवन इतना व्यस्त हो गया है कि स्मृतियाँ कहीं किसी किताब में जैसे दबाकर भूल जाते हैं। 'कल रात' कविता में यही स्मृतियों विद्यमान हैं। बरसते हुए मेधों को देखकर भी नये कवि की संवेदनाएँ उद्वेलित होती है।

इस प्रकार प्रकृति चित्रण के संदर्भ में नयी कविता शास्त्रीय कसौटी पर तो कदाचित खरी नहीं उतर पाई किन्तु प्रकृति के जो चित्र नये कवि ने खींचे हैं वे उसके आधुनिक दृष्टिकोण को अवश्य व्यक्त करते हैं।

सामाजिक जीवन व्यवस्था

नयी कविता में सामाजिक जीवन के दो धरातल देखने को मिलते हैं पहला देशात व दूसरा शहर। ग्रामीण जीवन के सूक्ष्म चित्र हमें नयी कविता में प्राप्त होते हैं सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लिखा है-

"जिन्दगी को अर्थ देने के चक्कर में
वह व्यर्थ हो गया,
मंदिरों में झाडू लगाते
और कीर्तन सभाओं में दरिया बिछाते बिछाते, वह किसी काम के लिए असमर्थ हो गया।"[24]

यह रोजी रोटी के लिए खपता हुआ अपनी बंधी बंधाई लीक पर चलता हुआ ग्रामीण जीवन। यहाँ पर भी कवि का आधुनिक बोध उसकी अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है। नयी कविता में शहरी जीवन के बहुआयामी यथार्थवादी चित्र मिलते हैं। महानगर का सामाजिक जीवन बड़ा विषाक्त हो गया है। शहर का रहन-सहन, खान-पान और जीने का ढंग भी बदल गया है। इन शहरों में सबसे दयनीय यदि कोई है तो मध्यवर्ग-

"कालेज से फर्स्ट क्लास की डिग्री / एक बार और हाथ में थमा
फिर से जीने के लिए देती हो नयी जिन्दगी तुम तो ।।"[25]

स्वतंत्रता के बाद युवा पीढ़ी को मिला सबसे बड़ा पुरस्कार बेरोजगारी है। इस मध्य वर्ग के युवा के पास डिग्री है पर रोजी रोटी को काई माध्यम नहीं है। चूंकि आज का जीवन छिन्न भिन्न है अतः नयी कविता का आधुनिक जीवन बोध भी खण्डों में ही व्यक्त हो रहा है। उसे घनीभूत होकर एकाकार होने में समय लगेगा। पर यह शुभ लक्षण है कि नयी कविता इस मार्ग पर अग्रसर है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि नयी कविता में मानवीय जीवन के विभिन्न पहलुओं को बहुतायत दर्शाया गया है।

उपसंहार

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि नयी कविता में मानवीय जीवन के विविध पहलुओं को कवियों ने बड़ी सहजता से उजागर करने का प्रयास किया है। मनुष्य जीवन से जुड़े पक्षों को लेकर नयी कविता रची गई है। साथ ही नयी कविता जीवन के हर पक्ष से हमें अवगत कराती है।

नयी कविता की भाषा किसी एक पद्धति में बंधकर नहीं चलती। सशक्त अभिव्यक्ति के लिए बोलचाल की भाषा का प्रयोग इसमें अधिक हुआ है। नयी कविता में केवल संस्कृत शब्दों को ही आधार नहीं बनाया है, बल्कि विभिन्न भाषाओं के प्रचलित शब्दों को स्वीकार किया गया है। नए शब्द भी बना लिए गए हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं नयी कविता में आधुनिक जीवन बोध और मानवीय जीवन के विविध पक्ष का बखूबी इस्तेमाल किया गया है।

संदर्भ :-

1. मुक्तिबोध : नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध. पृ. 118

2. शकुंतला माथुर, दूसरा सप्तक. पृ. 45

3. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना-कुआनो नदी. पृ. 71

4. रघुवीर सहाय-आत्महत्या के विरुद्ध. पृ. 24

5. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना -गर्म हवाएं. पृ. 15

6. हरिनारायण व्यास -दूसरा सप्तक. पृ. 69

7. शमशेर बहादुर सिंह- दूसरा सप्तक. पृ. 98

8. डॉ नगेंद्र -आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां. पृ. 22

9. केदारनाथ सिंह -जमीन पक रही है. पृ. 34

10. गिरिजा कुमार माथुर -शिला पंख चमकीले. पृ. 23-24

11. नरेश मेहता उत्सवा. पृ. 49-50

12. नरेश मेहता उत्सव. पृ. 86

13. गिरिजा कुमार माथुर -शिला पंख चमकीले. पृ. 44

14 नरेश मेहता उत्सव पृष्ठ 29

15. रघुवीर सहाय -नेता क्षमा करें. पृ. 58

16. अजीत कुमार -अकेले कंठ की पुकार. पृ. 12

17. धर्मवीर भारती दूसरा सप्तक. पृ. 174

18. डॉ.वचन देव कुमार -जो अजन्मा सुनो. पृ. 66

19. शमशेर बहादुर सिंह- दूसरा सप्तक. पृ. 88

20. डॉ धर्मवीर भारती दूसरा सप्तक. पृ. 17821. मुक्तिबोध -भूरी भूरी खाक धूल. पृ. 98

22. कैलाश वाजपेयी - संक्रांत. पृ. 97

23. डॉ धर्मवीर भारती- साथ गीत वर्ष. पृ. 33-34

24. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना- कुआनो नदी. पृ. 25

25. मदन वात्सायन -तीसरा सप्तक. पृ. 151

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

अप्रमा के रूप में तर्क

डॉ. इन्द्रजीत प्रसाद सिंह*

indrajitbnj@gmail.com

भारतीय परम्परा में दो प्रकार के ज्ञान की चर्चा की गयी है– एक अनुभव से उत्पन्न ज्ञान और दूसरा स्मृति से। अनुभव से उत्पन्न ज्ञान भी दो प्रकार के माने गये हैं:– यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव प्रमा है तथा अयथार्थ अनुभव अप्रमा। प्रमा तत्त्वानुभव है– 'तत्त्वानुभवः प्रमा!'[1] अर्थात जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझना प्रमा कहलाता है। इसके विपरीत जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में अनुभव नहीं होना अप्रमा कहलाता है। यदि हम रस्सी को रस्सी समझते हैं तो यह अनुभव प्रमा है और यदि रस्सी को साँप समझ लेते हैं तो यह अप्रमा कहलाता है। जो वस्तु जहाँ नहीं है, उसका वहाँ अनुभव कर लेना अयथार्थ ज्ञान है 'तद्भाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽ यथार्थ : ।[2]

अयथार्थ ज्ञान को तीन वर्गों में रखा गया है– संशय, विपर्यय तथा तर्क। न्याय दर्शन के अनुसार एक धर्मी में परस्पर विरोधी अनेक धर्मों का बोध संशय कहलाता है– एकस्मिन् धर्मणि विरूद्धनानार्थावमर्श: संशय:।[3] विपर्यय अर्थात भ्रम को 'ख्यातिवाद' के नाम से जाना जाता है, जिसमें विभिन्न भारतीय दार्शनिकों का भ्रम के सम्बन्ध में अलग-अलग मंतव्य है। तीसरा अयथार्थ ज्ञान तर्क है।

तर्क का साधारण अर्थ है– विपक्षी के खण्डन के लिए दी जाने वाली युक्ति। न्याय दर्शन में भी तर्क का स्वरूप युक्ति ही है। परन्तु यह युक्ति खण्डन के लिए नहीं बल्कि अनुमान की सिद्धि के लिए प्रयोग में लायी जाती है। तर्क एक विशेष प्रकार की युक्ति है। चूँकि यह अनुमान की सिद्धि के लिए प्रयुक्त होता है। अत: इसे अनुमिति का सहायक माना जाता है। इस प्रकार तर्क स्वतंत्र रूप से उपयोगी नहीं बल्कि अनुमान के क्षेत्र में ही उपयोगी है। यद्यपि यह अप्रमा का एक प्रकार है, फिर भी यह प्रमा के निश्चय में सहायक है। इस प्रकार तर्क स्वतंत्र प्रमाण तो नहीं, परन्तु प्रमाण का सहायक है।

गौतम के अनुसार जिस विषय का तत्त्वज्ञान उपलब्ध नहीं है, उस विषय का तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए, कारण की उत्पत्ति करते हुए एक पक्ष की संभावना का नाम तर्क है–

'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तिस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क :[4]।।

किसी व्यक्ति को किसी विषय का तत्त्वज्ञान अर्थात् यथार्थ ज्ञान नहीं है, तो वह स्वभावतः इसके लिए इच्छा करता है। यही जिज्ञासा है। इसके बाद विविध पक्ष उपस्थित होते हैं। परस्पर विरोधी धर्म भी दिखाई पड़ने लगते हैं। ऐसे में संशय उत्पन्न होता है कि कौन-सा पक्ष सही है। संदिग्ध पक्षों में जिस ओर कारण की उत्पत्ति देखने को मिलती है, उसी की संभावना स्वीकार की जाती है। यही संभावना तर्क है। जैसे– कोई व्यक्ति यह

---

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, बैजनाथ जालान महाविद्यालय, सिसई, गुमला, राँची विश्वविद्यालय, राँची**

जानना चाहता है कि आत्मा उत्पत्तिधर्मक है या अनुत्पत्तिधर्मक अथवा आत्मा नित्य है या अनित्य? मान लिया जाए कि आत्मा की उत्पत्ति होती है तो प्रश्न होगा कि शरीर और आत्मा में सम्बन्ध किस कारण से होगा? यदि यह सम्बन्ध पूर्व कर्म के फल से है तो आत्मा को नित्य मानना होगा। इस प्रकार अनुत्पत्तिधर्मक माना जाएगा।

वात्स्यायन के अनुसार तर्क प्रमाण नहीं बल्कि प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तत्त्वज्ञान में सहायक है "तर्को न प्रमाण - संगृहीतो न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्राहककस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते।"[5] जैसे पर्वत अग्नियुक्त है या नहीं इस प्रकार का संदेह होने पर कोई व्यक्ति यह मान सकता है कि 'पर्वत अग्निहीन' है। इस संदेह के निवारण के लिए इस प्रकार का तर्क किया जा सकता है– यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता, क्योंकि जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं। अग्निहीन होने से धूमहीन होने की इस आपत्ति को तर्क कहा जाता है। इस तर्क से अग्नि के अनुमान में सहायता मिलती है। इस प्रकार तर्क सहायक है, जिस कारण इसे प्रमाण का अनुग्राहक भी कहते हैं।

केशव मिश्र के अनुसार तर्क अनिष्ट प्रसंग है– 'तर्कोऽनिष्ट प्रसंग:'।[6] अनिष्ट अवांछित है, उसकी प्राप्ति ही तर्क है। जैसे– व्याप्य-व्यापक भाव दो धर्मों में होता है। इनमें एक व्याप्य होता है और दूसरा व्यापक। जिस धर्मी में इन दोनों में से व्यापक का होना अनिष्ट है, उसी धर्मी में व्याप्य को स्वीकार करने से व्यापक की जो आपत्ति होती है, उसे तर्क कहते हैं। जैसे घट का सद्भाव और घट का दर्शन। इन दोनों धर्मों में व्याप्य-व्यापक भाव सिद्ध है। इनमें घट का सद्भाव व्याप्य है और घट का दर्शन व्यापक। घट-शून्य भूतल रूप धर्मी में घट-दर्शन-रूप व्यापक का होना अनिष्ट है। यदि भूतल में घट के सद्भाव रूप व्याप्य को स्वीकार किया जाए तो उसमें घट दर्शन रूप अनिष्ट की इस प्रकार आपति हो सकती है– 'यदि इस भूतल में घट का सद्भाव होता तो वहाँ घट का दर्शन भी होता। यह आपत्ति अनिष्ट प्रसंग तर्क है।[7] केशव मिश्र तर्क और संशय में भेद भी बताते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यदि पर्वत अग्निहीन होता तो धूमहीन भी होता।' यह ज्ञान संशयपूर्ण है। इसमें धूमहीन होने की संभावना है और संभावना संशय रूप होती है। केशव मिश्र के अनुसार संशय और तर्क में भेद है। संशय में परस्पर, दो कोटियों का ज्ञान आवश्यक है। जैसे– धूमहीन होना और धूमहीन न होना। परन्तु यहाँ एक कोटि है धूमहीन होना। अतः तर्क संशय से भिन्न है।

तर्क को पाँच प्रकारों में विभाजित किया गया है :-

(क) प्रमाणाबाधित प्रसंग– इसप्रकार का तर्क ही प्रमुख है। जहाँ साक्षात् रूप से प्रमाण नहीं मिलता, वहाँ इस तर्क का आश्रय लिया जाता है। किसी विषय के प्रतिपादन के दो मार्ग हैं– पहला स्वपक्ष के समर्थन में युक्ति देना तथा दूसरा परपक्ष की असारता दिखाकर अपना समर्थन करना।

तर्क में दूसरी पद्धति का अवलम्बन किया जाता है। जैसे धूम से अग्नि के अनुमान में दो युक्तियाँ दी जा सकती हैं– सभी धूमवान् अग्निमान् हैं या अग्निमान नहीं हैं। लेकिन धूमवान् का अग्निमान् नहीं होना प्रत्यक्ष से बाधित है। अत: सभी धूमवान् अग्निमान् हैं– इसे ही स्वीकारना होगा। यही प्रमाण से अबाधित प्रसंग है।

(ख) आत्माश्रय– इस तरह के तर्क में किसी वस्तु का लक्षण करते समय उसी वस्तु के ज्ञान की अपेक्षा रहती है। जैसे 'गो' का लक्षण 'गो' से भिन्न में न रहनेवाली और सभी गो में रहने वाली जाति कहते हैं तो यहाँ आत्माश्रय तर्क है जो दोषपूर्ण है। इसे आत्माश्रय दोष कहते हैं। यहाँ 'गो' के लक्षण में गो के ज्ञान की अपेक्षा है।

(ग) अन्योन्याश्रय– किसी वस्तु के ज्ञान के लिए किसी वस्तु का ज्ञान होने सम्बन्धी तर्क अन्योन्याश्रय कहलाता है। जैसे 'गो' का लक्षण गलकम्बल होना है और गलकम्बल का लक्षण गो के गले से लटकने वाला चर्म किया जाए तो गो के इस लक्षण में अन्योन्याश्रय तर्क है, जो दोषपूर्ण है। इसे अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं।

(ध) चक्रक– वैसा तर्क जिसमें किसी वस्तु का अपने ज्ञान के लिए अपेक्षणीय ज्ञान की आवश्यकता हो। जैसे– 'गौ' का लक्षण 'गोत्व' है और गोत्व का लक्षण सास्नादिमत्व पदार्थ में न रहने वाली और सम्पूर्ण सास्नायुक्त पदार्थों में रहने वाली जाति। अब सास्ना का लक्षण किया जाए– 'गौ' का गलकम्बल होना तो यह तर्क दोषपूर्ण है। ऐसे दोष को चक्रक दोष कहा जाता है, क्योंकि यहाँ 'गौ' के लक्षण में 'गोत्व' का ज्ञान और गोत्व ज्ञान के लिए सास्नाज्ञान तथा सास्नाज्ञान के लिए पुन: 'गौ' का ज्ञान अपेक्षित है।

(ड) अनवस्था– वैसा तर्क जिसमें एक हेतु को सिद्ध करने के लिए अन्य हेतु की आवश्यकता हो और उसके लिए फिर तीसरे हेतु की आवश्यकता होती हो और इसी प्रकार तीसरे के लिए चौथे की और चौथे के लिए पाँचवे की आवश्यकता पड़े और इस तरह साध्य और हेतु की परम्परा अनन्त रूप से चलती चली जाए। यहाँ अनवस्था हो जाती है। ऐसा तर्क अनवस्था दोष से दूषित हो जाता है।

'अव्यवस्थितपरम्परा रोपाधीनानिष्टप्रसंग: अनवस्था' अर्थात् जिस स्थान या प्रसंग में अविराम: साध्य-साधन परम्परा का आरोपण किया जाता है, उसे अनवस्था कहते हैं। यहाँ सारा तर्क असिद्ध हेतु पर आधारित होता है। यद्यपि तर्क अप्रमा का एक प्रकार है, तथापि यह प्रमा के स्थापना में अत्यधिक सहायक होता है।

संदर्भ :-

1. शिवादिव्य: सप्तपदार्थो: पृ. 140

2. तर्क संग्रह: परिच्छेद 35, पृ. 23

3. मिश्र, केशव. (1976). *तर्कभाषा*. (व्याख्याकार बदरीनाथ शुक्ल) (द्वितीय संशोधित संस्करण) वाराणसी: मोतीलाल बनारसी दास. पृ. 334,

4. गौतम : न्यायसूत्र 1.1.40

5. न्याय भाष्य 1.1.1

6. मिश्र, केशव. (1976). *तर्कभाषा*. (व्याख्या. बदरीनाथ शुक्ल) वाराणसी: मोतीलाल बनारसी दास. पृ. 342

7. मिश्र, केशव. (1976). *तर्कभाषा*. (व्याख्या. ब. शुक्ल) वाराणसी: मोतीलाल बनारसी दास. पृ. 342-343

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

Utilizing Artificial Intelligence (AI) to Enhance Consumer Behavior Insights and Streamline Third-Party Product Services in Payment Banking

Kuldeep Kumar Kamboj* **Dr. Rajeev Shukla†**

Abstract

In the financial services sector, artificial intelligence (AI) has become a ground-breaking technology that helps companies improve operations and better understand customer behavior. Predictive analytics and better third-party service integrations are two ways AI is being used in payment banking. This study investigates the potential applications of AI in improving consumer behavior, how it impacts third-party product and service optimization, and what challenges and opportunities lie ahead. In addition to increasing its revenue through third-party product sales, such as insurance, loan referrals, mutual funds, and merchant-related services, AI-powered solutions have the potential to revolutionize the payment banking sector by fostering customer satisfaction, operational effectiveness, and personalization.

Keywords

Artificial Intelligence, payment banks, third-party products, customer behavior

* **Assistant Manager (Marketing), The State Trading Corporation of India Limited (A Central Public Sector Enterprise, Govt. of India) [Corresponding Author]**

† **Dy. Manager (Economist), The State Trading Corporation of India Limited (A Central Public Sector Enterprise, Govt. of India)**

Introduction

Payment banking is now at the forefront of innovation due to the low-cost model, paperless model and the digital transformation of financial services. Payment banks are faced with twin challenges due to the limitation of their business model for effectively managing third-party product services to enhance their revenue and utilizing the growing amount of consumer data produced by digital transactions to comprehend customer needs.

By facilitating automation, predictive modeling, and real-time data analysis, artificial intelligence (AI) addresses to these problems. In order to create a more competitive and customer-focused payment banking ecosystem, this paper investigates how AI can improve insights into consumer behavior and expedite third-party services and also enhance revenues for the bank.

Payment Banking and third-party services

In September 2013, the RBI formed a committee under the chairman of 'Dr. Nachiket Mor' to look into "Comprehensive financial services for small businesses and low-income households." The committee's primary objective was to offer the RBI innovative ideas for quickly and sustainably expanding financial inclusion in underbanked and unbanked segments of society.

The primary goals of the payment banks' establishment were to encourage low-cost transactions and cater to the needs of the impoverished last mile community. In order for customers to meet their needs, low-cost third-party offerings (micro-insurance, mutual funds, international money remittance, and loan referrals without any credit risk/underwriting) are therefore necessary in addition to account management and remittance services. Additionally, third-party services can have a social impact and support the Indian government's financial inclusion agenda.

Scope of Third-Party Offerings

Collaborations with third-party service providers enable Payment banks to get around the inability to issue credit and aid in improving the revenue generation models. Due to these collaborations, the payment banks can also remain cost-efficient while

expanding their service lines. Some of the key areas for third-party collaborations include:

1. Insurance Services: Payment banks engage with insurance firms to offer low-income target audiences micro-insurance policies. For example, Airtel Payments Bank offers insurance bundles in collaboration with private insurers. Investment Products: Payment banks facilitate access to investment vehicles like mutual funds that mutual fund companies offer.
2. Credit Services: As intermediaries for third-party lenders, payment banks are able to obtain credit, although they are not permitted to lend directly. The AI credit scoring algorithms lower the amount of risk and the time to approve loans.
3. E-commerce Integration: The integration of the Electronic Ordering System with the ordering site eliminates the need for the customer to log into two systems at once. Customers will be more satisfied and interested because payment banks will use e-commerce websites to offer cash back, loyalty points and easy checkout features.

Improving Understanding of Consumer behaviour through AI

Because it can provide deep insights into what the customer is doing with the product, artificial intelligence is a disruptive force in the financial services industry, particularly in the payment banks. Digital data growth and transactions pose challenges and opportunities for payment banks regarding the understanding of their customers. AI offers advanced tools for making predictions and influencing customer behaviour, enhancing customer satisfaction and service provision.

One of the most important uses of AI in payment banks is customer segmentation. Banks can identify patterns and create appropriate divisions based on customers' financial goals, spending capacities, and preferences by using machine learning algorithms to analyze vast amounts of transaction data (Fosso Wamba et al., 2015).

Payment banks now offer tailored goods and services, boosting customer loyalty and retention. Predictive analytics relies heavily on AI. Payment banks can utilize AI

models to foresee future customer behavior by recognizing customers who may leave or miss payments.

This allows banks to take preventive measures to lower risks and better engage customers by providing customized financial advice or rewards. Another way AI improves understanding of consumer behavior is through sentiment analysis.

AI tools can assess customer sentiment and highlight areas needing attention by analysing social media comments, support requests, and customer opinions (Chen et al., 2012). For example, payment banks can focus on fixing customer issues related to transaction delays to improve overall customer satisfaction. Additionally, chatbots and virtual assistants powered by AI are revolutionizing payment banks' customer service. They shorten wait times and enhance customer satisfaction by delivering quick and accurate answers to inquiries (Burgess et al., 2016).

From big data produced by financial transactions, artificial intelligence (AI) is closely related to the analysis of consumer behaviour. In the following important areas, AI helps to enhance consumer insights:

AI is now able to forecast clients' future behaviors by looking at the client's past habits and transactions. For example, less based likely on to their buy credit investment history plans and or spending loans patterns (Ngai which et AI al., systems 2009).

The accurately forecast, customers are more or application of recommendation engines driven by AI makes it easier for them to get personalized banking services. Additionally, it has been found that AI-based systems are able to enhance customer satisfaction by suggesting appropriate financial products to customers based on their preferences and previous exposure. This means that banks can use social media to talk opinions. This customers, makes and it possible to help solve customers' AI problems quickly, as with NLP AI ask technologies.

AI improves the functionality of Application Programming Interfaces (APIs), which are used to integrate products from third parties.

Robo Advisory Services: AI enhanced robo-advisors encourage customers on what third party products to buy. These tools assist in making choices by

recommending savings plans, insurance types, and investment ideas based on data. Fraud Detection and Risk Management: AI software analyzes commercial data and patterns, calculating irregular activities and thwarting AI-enabled fraudulent activities in the dealing of third parties.

Issues in AI adoption in payment banks

Regulations such as GDPR and RBI policy guidelines must be considered in the handling of sensitive financial data. With the avow of AI, it becomes more important to ensure data security during such operations.

Due to biases from the training data, AI models may produce biased outcomes rendering them unfair and unjust. Where, for instance, if algorithms aimed at assessing creditworthiness are not adequately designed, this may lead to unfair treatment of certain populations.

Payment banks also suffer from various integration issues. One may encounter integration woes through the management of other service organization APIs and systems. There is great need for strong AI infrastructure in order to ensure compatibility and scalability.

Future Benefits

Artificial Intelligence has the ability to collect and analyze data from various sources, including to devices and social media, which makes hyper- personalization possible. Rather, when distributed ledgers are added, third-party applications can gain from security and transparency. Integrating with third-party applications, banks and payment systems, super app development can enhance and transform the customer experience.

Conclusion

Artificial intelligence (AI), which offers actionable insights into consumer behavior and optimizes third-party product services, has the potential to completely transform payment banking, which is intended to function on a volume basis. AI can also provide a personalized experience for customers, allowing payment banks to increase their revenue through the provision of a variety of third-party product small

ticket offerings. Although there are still challenges to be addressed, advancements in AI technologies and regulatory frameworks will enable a more efficient and inclusive financial ecosystem. Effective use of AI by payment banks can increase customer satisfaction, encourage innovation, and maintain a competitive edge.

References

Burgess, M. L., Sellitto, C., & Ifenthaler, D. (2016). The Role of Student Feedback in Evaluating the Effectiveness of Educational Interventions. *Educational Technology Research and Development, 64*(4), 649-671.

Chen, H., Chiang, R. H. L., & Storey, V. C. (2012). Business Intelligence and Analytics: From Big Data to Big Impact. *MIS Quarterly, 36*(4), 1165-1188.

Deloitte report: RBI guidelines for licensing of payment banks: https://www2.deloitte.com/content/dam/Deloitte/in/Documents/financial-services/in-fs-deloitte-pov-on-payments-banking-license-guidelines-noexp.pdf

Fasnacht, D. (2009). Open Innovation in the Financial Services. Springer.

Fosso Wamba, S., Akter, S., Edwards, A., Chopin, G., & Gnanzou, D. (2015). How "Big Data" Can Make Big Impact: Findings from a Systematic Review and a Longitudinal Case Study. *International Journal of Production Economics, 165*, 234-246.

Goodfellow, I., Bengio, Y., & Courville, A. (2016). Deep Learning. MIT Press.

Ngai, E. W., Xiu, L., & Chau, D. C. (2009). Application of data mining techniques in customer relationship management: A literature review and classification. *Expert Systems with Applications*, 36(2), 2592-2602.

RBI guidelines on payment banks: https://www.rbi.org.in/commonman/English/scripts/Notification.aspx?Id=2281

Riggins, F. J., & Wamba, S. F. (2015). Research Directions on the Adoption, Usage, and Impact of the Internet of Things through the Use of Big Data Analytics. *Proceedings of the 48th Hawaii International Conference on System Sciences (HICSS).*

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

नासिरा शर्मा के उपन्यासों में नारी चेतना

पंकज कुमार मिश्र*

pankajkumarmishra090@gmail.com

सारांश :-

यहाँ नासिरा शर्मा के नारी चेतना पर आधारित उपन्यासों का संक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है। चेतना मनुष्य के ज्ञान, बुद्धि और अनुभूति का प्रतीक है, जो नारी के भीतर भी विद्यमान है। नासिरा शर्मा के उपन्यासों में नारी की चेतना को विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। उनके उपन्यास 'शाल्मली' में नायिका अपनी उच्च चेतना के बल पर तलाक के बजाय अलगाव को चुनती है। ठीकरे की मंगनी में महरूख अपने आत्मसम्मान को बनाए रखते हुए स्वयं को जीवन में स्थापित करती है। सात नदियाँ एक समंदर में तय्यबा जैसी नारी क्रांति में भाग लेकर सत्ता के विरुद्ध संघर्ष करती है।

कुइयाँजान में समीना आत्मनिर्भरता की मिसाल पेश करती है, जबकि पारिजात में रूही और उसकी माँ फिरदौस नारी की ममता और चेतना का सुंदर चित्रण करती हैं। अजनबी जजीरा में समीरा विपरीत परिस्थितियों में भी अपनी बुद्धिमत्ता और विवेक से स्वयं को बचाती है। कागज की नाव में महजबीं नारी के मूल गुणों को समझकर परिवार के महत्व को स्वीकारती है। इन उपन्यासों के माध्यम से नासिरा शर्मा ने नारी चेतना को जागरूकता, आत्मसम्मान और संघर्षशीलता से जोड़कर प्रस्तुत किया है। नारी के बिना समाज अधूरा है, और उसकी चेतना ही समाज को सृजन और संवेदना प्रदान करती है।

मुख्य शब्द: चेतना, नारीवाद, संवेदना, समानता, संघर्ष

मानव के ज्ञानमूलक मनोवृत्ति को चेतना कहते हैं। चेतना मनुष्य की बुद्धि एवं उसके समुचित प्रयोग को दर्शाता है। वेदान्त दर्शन में चेतना मन से भी सूक्ष्म अनुभूति है। अध्यात्म में चेतना के तीन स्तर हैं, चेतन, अवचेतन और अचेतन जो कि क्रमशः ज्ञान, अर्द्ध ज्ञान और अज्ञान का प्रतीक है। सर्वप्रथम जब मनुष्य की उत्पत्ति हुई तब एक पुरुष एवं नारी के रूप में सृष्टि के सबसे सौंदर्यमयी रचना का आविर्भाव हुआ। प्राकृतिक रूप से मानव सजीव वर्ग में है जिसमें आत्मा और चेतना दोनों निहित है। निरंतर अपने प्रयास और ज्ञान से मनुष्य ने चेतना के स्तर को उँचाई प्रदान किया है। ऐसा तब संभव हो पाया जब नारी-पुरुष दोनों ने बड़ी सूझबूझ

* **पी-एच. डी. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, सिदो-कान्हु मुर्मू विश्वविद्यालय, दुमका, झारखण्ड**

से कार्य किया। उस समय दोनों के उद्देश्य समान थे नारी-पुरुष के बीच कोई दीवार नहीं था जिसके फलस्वरूप एक सभ्य समाज का निर्माण संभव हो सका। मानव की संख्या में वृद्धि होते ही नई-नई आवश्यकताओं ने जन्म लिया और समाज का स्वरूप पुरुष सत्तात्मक हो गया। नारी लाख कष्ट सहकर और अपने गर्भ से पराक्रमी पुरुष को जन्म देकर भी कुत्सित मानसिकता वाले पुरुषों के द्वारा प्रताड़ित की जाने लगी, सती प्रथा के नाम पर जिंदा जला दी गई एवं भोग की वस्तु के रूप में शारीरिक शोषण का शिकार बनने लगी। लेकिन आधुनिक युग में नारी की चेतना जागृत हुई और नारी ने हर क्षेत्र में अपनी अहमियत सिद्ध करते हुए लोहा मनवाया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में नारी का विषय स्त्री-विमर्श के अंतर्गत आता है। इसी संदर्भ में सुप्रसिद्ध भारतीय नारी एवं उपन्यास लेखिका नासिरा शर्मा जी के उपन्यासों में नारी चेतना पर प्रकाश डाला जा रहा है। 1987 ई. से लेकर 2016 तक नासिरा शर्मा के 10 उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। जैनेन्द्र कुमार की भाँति इनके भी उपन्यासों में नारी प्रमुख पात्र की भूमिका में नजर आती है जबकि उपन्यास अजनबी जजीरा में समीरा और उसकी पाँच बेटियों की दर्दनाक कहानी का बयान किया गया है। इनके उपन्यासों में नारी चेतना और नारी संवेदना का उल्लेख किया गया है जो कि नारीवाद का द्योतक है। इस संबंध में संस्कृत साहित्य के ज्ञाता डॉ. हर्षदेव माधव जी कहते हैं कि – 'नारी चेतना नारीसंवेदना च नारीवादः।'

नासिरा शर्मा द्वारा सर्वप्रथम रचित और 1987 ई. में प्रकाशित उपन्यास शाल्मली की नायिका ही शाल्मली है। वह संभ्रांत परिवार की एकमात्र संतान है। शाल्मली सुशिक्षित, सर्वगुण संपन्न और सुयोग्य अधिकारी होते हुए भी अपने चरित्रहीन एवं रूढ़िवादी पति नरेश को तलाक नहीं देना चाहती है। वह एक चिंतनशील नारी के रूप में अपने चेतन मन से यह सोचती है कि जिस पुरुष के साथ मैंने 10-11 वर्षों का जीवन बिताया है, क्या उसे आसानी से बर्बाद होने दिया जाय। वह एक चेतनशील नारी और दाम्पत्य संबंध के मुद्दे पर गंभीरता पूर्वक विचार करते हुए इस नतीजे पर पहुँचती है कि तलाक से अच्छा अलगाव है और वह शांति पूर्वक पति से अलग रहने का निर्णय लेती है। यहाँ पर शाल्मली के चेतना के उच्च स्तर का परिचय मिलता है। नासिरा शर्मा शाल्मली की सोच के बारे में लिखती हैं – "जीवन के इन 10-11 वर्षों के संताप को वह जीवन का महत्त्वपूर्ण मुद्दा मानकर उसकी तरफ से निर्लिप्त हो जाए, इसी में उसकी भलाई है, वरना जिस व्यक्तित्व को उसने अब तक सहेज कर रखा है, उसे यूँ ही तोड़ बैठेगी।"[1]

1989 ई. में प्रकाशित नासिरा शर्मा के द्वितीय उपन्यास ठीकरे की मंगनी में उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र के मुस्लिम समाज में नारी की स्थिति और रूढ़िवादी विचारधारा के बीच द्वंद्व की दास्तान है। इस उपन्यास की नायिका महरूख सैयद के परिवार के चार पीढ़ियों में पहली लड़की है जिसे बचाने के लिए उसकी खाला टोटका का सहारा लेती है, जिसका नाम ठीकरे की मंगनी है। महरूख के युवा होने पर खाला शाहीन उसकी सगाई अपने बेटे रफत भाई के साथ कर देती है। इसके बाद दोनों दिल्ली जाकर पढ़ाई करने लगते हैं लेकिन इसी बीच रफत अमेरिका जाकर वैलरी नामक लड़की से विवाह कर लेता है। महरूख की शादी का ख्वाब अधूरा रह जाता है। वह पी-एच. डी. की पढ़ाई बीच में छोड़कर गाँव आ जाती है और अध्यापिका की नौकरी

करने लगती है। कार्यक्षेत्र में भी उसे सहकर्मी एवं प्रभावशाली लोगों द्वारा परेशान किया जाता है, फिर भी महरूख विचलित नहीं होती है। वह अपने विवेक से अपने कार्य को बखूबी अंजाम देती है। जब अमेरिका से वापस आकर रफत भाई महरूख के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है तब वह कहती है – "मैं जगह, चीज या मकान नहीं थी, रफत भाई, जो वैसी की वैसी रहती। मैं इंसान थी.... बड़ी मुश्किल से अपने को चुना है, समेटा है, जोड़ा है, तब कहीं जीने के काबिल हुई हूँ। मेरी यह जिंदगी वापस मत छीनिये।"[2]

बहुआयामी नारी चरित्रों को अपनी बाँहों में समेटने वाले उपन्यास सात नदियाँ एक समंदर का प्रकाशन 1995 ई. में हुआ था। यह नासिरा शर्मा का चौथा उपन्यास है, जिसमें तय्यबा, सुसन, मलिहा, परी शहनाज, अख्तर और सनोबार जैसी सात छात्राओं के सुनहरे भविष्य के आशा की दास्तान है। ये सभी ईरानी विश्वविद्यालय में अध्ययनरत हैं एवं पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त करने को आतुर हैं। लेकिन शाह के शासन को उखाड़ फेंकने के लिए चलाये जाने वाले आंदोलन के कारण विश्वविद्यालय बंद हो जाता है और अयातुल्ला खुमैनी के सत्ता पर काबिज होने के बावजूद भी इन सबकी उम्मीदों पर पानी फिर जाता है। तय्यबा को छोड़कर सभी छात्राएँ वैवाहिक जीवन में प्रवेश कर जाती हैं लेकिन वह अपने कलम को हथियार बनाते हुए खुमैनी शासन के विरूद्ध टूट पड़ती है। वह अखबारों में खुलेआम खुमैनी की विफलता के बारे में लिखती है जो खूनी संघर्ष में परिणत हो जाती है। ईरान में आज भी रूढ़िवादी विचार धारा अपना पंख फैलाये हुए है ऐसी स्थिति में वहाँ एक नारी के द्वारा सर्वोच्च नेता का विरोध नारी शक्ति की निर्भीकिता और उच्च चेतना को दर्शाता है। हलांकि तय्यबा को खुमैनी समर्थकों द्वारा शारीरिक और मानसिक प्रताड़ना देते हुए अंततः गोली से उड़ा दिया जाता है। लाख प्रताड़ना सहकर एवं खुद की निर्मम मौत को स्वीकार कर भी तय्यबा अपने क्रांतिकारी साथियों के बारे में अधिकारियों को कोई जानकारी नहीं देती है। ईरानी शासकों के विरोध में ईरानी महिलाओं की भूमिका के बारे में नासिरा शर्मा कहती हैं कि ईरान की क्रांति पर लिखा मेरा यह उपन्यास उन अनुभवों का लेखा-जोखा है जो पिछले नौ वर्षों में मुझे ईरान की धरती पर हुए। इन नौ वर्षों के पीछे 90 वर्षों का अतीत सांसे ले रहा था। नारी चेतना के बारे में आगे नासिरा शर्मा लिखती हैं – "इमाम खुमैनी ने कई बार अपने भाषणों में कहा कि यदि औरतें बँधी मुट्ठी लिये बाहर न निकलती तो यह क्रांति वजूद में न आती क्योंकि उन्होंने अपने मर्दों और बच्चों को शाही व्यवस्था के विरोध में एकजुट कर बगावत की आग उनके सीने में भरी।"[3]

कुइयाँजान जल की समस्या पर आधारित और 2005 ई. में प्रकाशित नासिरा शर्मा का छठा उपन्यास है। इस उपन्यास का शाब्दिक अर्थ है कि कुआँ ही जल का मुख्य स्रोत है और जल ही लोगों का जीवन है। पानी के बिना प्राण का टिकना असंभव है। उपन्यास की कथावस्तु में शकरआरा और खुर्शीदआरा दो मुस्लिम बहनों के परिवार की भूत और वर्तमान की घटनाओं से संबंधित है। शकरआरा एक बहुत खूबसूरत और महात्वाकांक्षी नारी है एवं सेवानिवृत्त भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी की पत्नी है। उसका अपने पति, सास, पुत्र, पुत्रवधु, बहन और तीन पुत्रियों के साथ मतभिन्नता बनी रहती है लेकिन उसकी बहन खुर्शीद आरा गरीब होते हुए भी उदारवादी विचारधारा वाली नारी है। उदारता, दयालुता और सहिष्णुता नारी की आत्मा है, जिसमें नारी की चेतना निहित होती है।नारी चेतना का उत्कृष्ट उदाहरण शकरआरा की बहु समीना पेश करती

है। उसे अपने पति या सास से पैसे माँगना अच्छा नहीं लगता है। उसे मिस मेरी स्कूल से नौकरी की पेशकश की जाती है जिसे वह स्वीकार कर लेती है। समीना कहती है – "मेरे पति (कमाल) जो कमाते हैं वह मरीजों पर खर्च कर देते हैं। उन्हें मना करने का अर्थ है, नेकी से हाथ खींचना, जो मैं नहीं चाहती हूँ मगर इस समस्या का तो हल करना पड़ेगा। माली तौर से जब तक हम मजबूत न होंगे, किसी भी शख्स की मदद सही तरीके से नहीं कर पाएंगे।"[4] नारी की ऐसी सोच जो कि उसकी उच्च चेतना स्तर का परिचायक है, विरले ही देखने को मिलता है।

पारिजात का प्रकाशन 2011 ई. में हुआ था और कालक्रम की दृष्टि से यह नासिरा शर्मा का आठवाँ उपन्यास है। पारिजात एक देववृक्ष है। इसके फूल सफेद और शिवलिंग के आकार के होते हैं। जिसकी स्मृतियाँ देवलोक या स्वर्ग से जुड़ती हुई पाई जाती है। यह उपन्यास तीन परिवारों से संबंधित और हिन्दू मुस्लिम एकता का प्रतीक है। इन तीन परिवारों का एकलौता वारिस रोहन का बेटा पारिजात है। इस उपन्यास में रूही और उसकी माँ फिरदौस दोनों ही चेतनशील नारी है तथा उपन्यास का प्रमुख नारी भी पात्र है। रूही को वैध्व्य के साथ-साथ, अनेक मौत का गम व दुःख सहना पड़ता है फिर भी वह मैके और ससुराल का दायित्व संभालती है। अंत में वह रोहन से दूसरा विवाह कर लेती है जिसे उसकी ब्रिटिश पत्नी एलिसन ने झूठा मुकदमा में फँसाकर हवालात भेजवा दिया था। वह रोहन का सहारा बनकर उसे नई जिंदगी की राह दिखाती है। दूसरी ओर रूही की अशक्त माँ फिरदौस भी चेतना और ममता की जीती-जागती मिशाल बन जाती है। रोहन और रूही के शादी के बाद वह हरसंभव इस प्रयास में रहती है कि किस प्रकार रोहन का बेटा पारिजात वापस आ जाए या दूसरे नये बच्चे परिजाद का जन्म हो। रूही अपने पति रोहन के तड़प को भली-भाँति समझती है। वह जानती है कि जब तक रोहन और पारिजात का मिलन नहीं हो जाता है तब तक मेरा नया बच्चा भी पिता का पूर्ण प्यार नहीं पा सकेगा। रूही खुदा से प्रार्थना करते हुए कहती है कि मेरे माबूद मेरी गोद मेरी बड़ी औलाद से सजा दे। पारिजात जहाँ कहीं भी हो, उसे रोहन के सीने से लगा दे। अगर ऐसा न हुआ तो रोहन की तड़प कभी मिटेगी नहीं और हमारा छोटा बेटा बाप के सीने में सुलगती तपिश को ही हमेशा महसूस करेगा।[5] इस प्रकार रूही की नारी चेतना में ममता की पराकाष्ठा है जो साधारण नारी को महानारी बना देता है। नारी चेतना के सौंदर्य को नासिरा शर्मा ने अत्यंत खूबसूरती से पिरोया है। रोहन की कथा और उसके निदान के बारे में एक नारी के समक्ष चिंतनीय परिस्थिति का उल्लेख भी इस उपन्यास में किया गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल कहते हैं – "लोक या किसी जनसमाज के बीच काल की गति के अनुसार जो गूढ़ और चिंत्य परिस्थितियाँ खड़ी होती रहती हैं उनको गोचर रूप में सामने लाना और कभी-कभी निस्तार का मार्ग भी प्रत्यक्ष करना उपन्यासों का काम है।"[6]

इराक की बदहाली और वहाँ स्त्रियों की करुण व दारुण स्थितियों के विश्लेषण पर आधारित उपन्यास अजनबी जजीरा नासिरा शर्मा का नौवाँ उपन्यास है जिसका प्रकाशन 2012 ई. में इलाहाबाद में हुआ था। इस उपन्यास में समीरा और उसकी पाँच बेटियों की संघर्षशील कहानी है। इराक में जब अमेरिकी फौज का बर्बर हमला हुआ उसके बाद वहाँ के लोगों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई। औरतों को अपनी जिंदगी बचाने के लिए अपनी अस्मिता से भी समझौता करना पड़ा। उन्हें देह व्यापार और शारीरिक शोषण का शिकार होना

पड़ा। ऐसी स्थिति में समीरा और उसकी पाँचों बेटियों के समक्ष भूख और अस्मिता दोनों को बचाने का प्रश्न था। समीरा की सूझबूझ और चेतना ने उसे इस परिस्थिति से सुरक्षित बाहर निकाला। समीरा कहती है – "जिस्मफरोशी से मुझे हालात ने महफूज रखा वरना वह भी मुझे करना पड़ता....... पेट भरे लोगों के लिए उँगली उठाना कितना आसान होता है मगर भूखे के लिए रोटी हर फलसफे से बढ़कर अहम हो सकती है।"[7] एक स्त्री के लिए उसकी इज्जत से बढ़कर कोई संपत्ति नहीं होती है। उसकी आबरू लुटते ही उसकी मर्यादा तार-तार हो जाती है। इस संबंध में मुंशी प्रेमचंद सेवासदन उपन्यास में भोलीबाई के बारे में सुमन का विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं – "मैं कितनी हत भागिनी हूँ। एक वह स्त्रियां हैं, जो आराम से तकिये लगाए सो रही हैं। एक मैं हूँ कि यहां बैठी हुई अपने नसीब को रो रही हूँ।.... एक टूटी खाट पर सोती हूँ, रूखी रोटियां खाती हूँ, क्यों मर्यादा पालन के लिए ही न।"[8] इराक में अमेरिकी फौजों के सामने बड़े-बड़े दिग्गजों ने आत्मसमर्पण कर दिए, वहाँ की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गई, लाखों बेकसूर लोग मारे गये, सत्ता व्यवस्था चरमरा गई और कुछ वर्षों बाद राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन को मौत के घाट उतार दिया गया। वैसी स्थिति में समीरा रूपी नारी का महफूज रहना उसके कुशाग्र बुद्धि और फौलादी जिगर का परिचायक है। कृष्णा सोबती लिखती हैं – "बहुत बार हमलावरों के सामने। बहुत बार राज-पाट बदले, पर चौड़े सीने वालों ने कड़े जिगर वालों ने, कभी हौसले नहीं गँवाए।"[9]

कागज की नाव का प्रकाशन 2014 ई. में हुआ था। यह कालक्रम की दृष्टि से नासिरा शर्मा का दसवाँ उपन्यास है। कागज की नाव एक रूपक की भाँति है जो नवीनता और विशिष्टता की और संकेत करती है। कागज की नाव में महलका, मलकानूर, सुगरा, कान्ता, शानता, महुवा पासिन, बहू गंगा जैसी अनेक असहाय युवतियों की व्यथा की गाथा को अपने आवरण में समेटे हुए है। लेकिन इसमें से मलकानूर की कहानी अत्यंत मार्मिक है जो कि अँधेरा के बीच रोशनी तलाश रही है। महलका अपनी माँ महजबीं के गलत सलाह का शिकार बनकर पारिवारिक तनाव उत्पन्न करती है और झेलती है। लेकिन अंततः महजबीं की चेतना जागृत होती है। महजबीं को नारी के मौलिक गुण का आभास होता है और वह कहती है – "सारी बातों का निचोड़ सिर्फ इतना जानती हूँ कि घर बिना औरत के नहीं चल सकता है। वह चाहे तो घर रहेगा, वह नहीं चाहेगी तो घर कभी बनेगा नहीं।"[10] वास्तव में घर शब्द का निर्माण नारी-पुरुष के मधुर संबंधों से उत्पन्न हुआ है। कागज की नाव पर सवार होकर जो भारतीय पुरुष एवं अन्य देशों के पुरुष अपने परिवार को खुशी देने के लिए खाड़ी देशों में जाते हैं उसकी धुरी स्त्री ही है। पुरुष अपनी स्त्री के भरोसे या किसी नारी के सहारे ही अपने बच्चों, बुजुर्गों को छोड़कर परदेश जाते हैं। ऐसी स्थिति में पूरे परिवार के देखभाल की जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही होती है और वही अपनी भूमिका को संदिग्ध बना ले तो इस संसार में बड़े-बड़े मकान तो रहेंगे लेकिन घर कहीं नहीं रहेगा। घर का सीधा संबंध नारी से है। जैनेन्द्र कुमार कहते हैं – "पुरुष कुछ नहीं बनाता-बिगाड़ता, जो कुछ बनाती और बिगाड़ती है स्त्री ही। स्त्री ही व्यक्ति को बनाती है, घर को, कुटुम्ब को बनाती है। जाति और देश को भी कहता हूँ, स्त्री ही बनाती है। फिर उन्हें बिगाड़ती वही है।"[11]

निष्कर्ष :-

नर के बिना नारी और नारी के बिना नर और घर दोनों अधूरा है। नारी की चेतना के फलस्वरूप ही इस संसार को सँवारा जा सका है। प्राचीन काल या सृष्टि के आविर्भाव से अब तक नारी ने सर्जना शक्ति से मानव के इस विशाल रूप को सृजित किया है। पुरुषों में दया और प्रेम का भाव भरकर मानव चेतना को जागृत किया है। स्वयं की चेतना से अमूर्त को भी मूर्त रूप प्रदान किया है। नासिरा शर्मा जी ने अपने उपन्यासों में विभिन्न भावों के द्वारा नारी चेतना का जो बोध कराया है वह प्रेरणादायक और काबिल तारीफ है।

संदर्भ :

1. शर्मा, नासिरा. (1987/2010). *शाल्मली*. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृ. 169

2. शर्मा, नासिरा. (1987/2010). *ठीकरे की मंगनी*. नई दिल्ली: किताबघर प्रकाशन. पृ. 117

3. शर्मा, नासिरा. (1984). *सात नदियाँ एक समंदर*. नई दिल्ली : अभिव्यंजना प्रकाशन. पृ. 8-9

4. शर्मा, नासिरा. (2005/2011). *कुइयाँजान*. नई दिल्ली : सामयिक प्रकाशन. पृ. 45

5. शर्मा, नासिरा. (2011). *पारिजात*. नई दिल्ली : किताबघर प्रकाशन. पृ. 498

6. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र. (2002). *हिन्दी साहित्य का इतिहास*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 367

7. शर्मा, नासिरा. (2012). *अजनबी जजीरा*. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृ. 120

8. मुंशी प्रेमचंद. (NA). *सेवासदन उपन्यास*. अग्रवाल प्रेस, इलाहाबाद : हंस प्रकाशन. पृ. 44

9. सोबती, कृष्णा. (2003). *जिंदगीनामा*. (छठा संस्करण) नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृ. 13

10. शर्मा, नासिरा. (2014). *कागज की नाव*. नई दिल्ली : किताबघर प्रकाशन. पृ. 68

11. कुमार, जैनेन्द्र. (2015). *परख*. (पाँचवाँ संस्करण) नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन. पृ. 44

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

राजस्थानी चित्रकला शैली: एक ऐतिहासिक एवं कलात्मक अध्ययन

जगदीश चन्द्र धाकड़*

jcdhaker1983@gmail.com

राजस्थानी चित्रकला शैली का तात्पर्य उस विशिष्ट लघुचित्र परंपरा से है, जो मुख्य रूप से राजस्थान और वर्तमान मध्य प्रदेश के कुछ शाही राज्यों में विकसित हुई। यह शैली विभिन्न रियासतों में अपने अद्वितीय स्वरूप में पल्लवित हुई, जिनमें मेवाड़, बूँदी, कोटा, जयपुर, बीकानेर, किशनगढ़, जोधपुर (मारवाड़), मालवा और सिरोही प्रमुख हैं। इस कला का विकास मुख्य रूप से 16वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी की शुरुआत तक हुआ। 1916 में प्रसिद्ध कला इतिहासकार आनंद कुमारस्वामी ने इस चित्रकला को "राजपूत चित्रकला" नाम दिया, क्योंकि इसे संरक्षण प्रदान करने वाले अधिकांश शासक राजपूत थे। उन्होंने इस नामकरण द्वारा इसे मुगल चित्रकला से अलग पहचान दिलाने का प्रयास किया। उन्होंने मालवा शैली, मध्य भारत की रियासतों में प्रचलित शैली और पहाड़ी क्षेत्रों की कला को भी इसी श्रेणी में रखा, क्योंकि इनकी जड़ें भारतीय परंपराओं में थीं। हालांकि, समय के साथ शोधकर्ताओं ने "राजपूत चित्रकला" की अवधारणा को छोड़कर इसे "राजस्थानी शैली" और "पहाड़ी शैली" के रूप में वर्गीकृत किया।

राजस्थानी चित्रकला की विशिष्टताएँ

भले ही इन शैलियों का भौगोलिक विस्तार सीमित था, लेकिन उनकी शैलीगत विशेषताएँ, रंगों का प्रयोग, रेखांकन की सशक्तता और चित्रण तकनीक में पर्याप्त विविधता पाई जाती है। इनमें वास्तुकला, मानव आकृतियाँ, प्रकृति, परिदृश्य और पौराणिक विषयों का प्रयोग भिन्न रूपों में किया गया है। राजस्थानी लघुचित्र आमतौर पर "वसली" पर बनाए जाते थे। वसली बनाने की तकनीक में कागज की पतली परतों को गोंद से जोड़कर आवश्यक मोटाई दी जाती थी। इसके बाद भूरे या काले रंग से रेखांकन किया जाता और फिर खनिज रंगों से चित्रों को भरा जाता। रंगों में सोना-चाँदी तथा प्राकृतिक खनिजों से बने चमकीले रंगों का प्रयोग किया जाता था। ब्रश ऊँट या गिलहरी के बालों से बनाए जाते थे, जिससे अत्यंत बारीक और सूक्ष्म चित्रकारी संभव होती थी। चित्र पूरा होने के बाद उसे अगेट पत्थर से घिसकर चमकदार बनाया जाता था। चित्रांकन प्रक्रिया सामूहिक होती थी, जिसमें एक प्रमुख कलाकार रेखांकन करता, फिर अन्य कलाकार रंग भरते और बारीकियों को उकेरते थे। अंतिम रूप देने के बाद सुलेखक चित्र के लिए उपयुक्त काव्य पंक्तियाँ या श्लोक अंकित करता था।

* **गाँव+पोस्ट - धाकड़ खेड़ी, तह. - मांडलगढ़, जिला - भीलवाड़ा (राजस्थान)**

राजस्थानी चित्रकला के विषय-वस्तु

16वीं शताब्दी तक भक्ति आंदोलन के प्रभाव से राम और कृष्ण से जुड़े विषय चित्रकला में अत्यधिक लोकप्रिय हो गए थे। कृष्ण भक्ति विशेष रूप से महत्वपूर्ण रही, जिसमें उनकी बाल लीलाएँ, गोपियों के साथ रासलीला और राधा-कृष्ण की प्रेम कथाएँ प्रमुख थीं। इसके अतिरिक्त, अन्य पौराणिक एवं साहित्यिक कथाएँ भी चित्रण के प्रमुख विषय रहे, जैसे— रामायण, महाभारत और भागवत पुराण, चारण कथाएँ, जैसे ढोला-मारू, सोनी-महिवाल और चौरपंचाशिका, राजदरबार, ऐतिहासिक घटनाएँ, युद्ध, शिकार, त्योहार, विवाह और संगीत सभाएँ

प्रमुख राजस्थानी चित्रकला शैलियाँ

मेवाड़ चित्रकला शैली

राजस्थानी चित्रकला की सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण शैली मेवाड़ चित्रकला मानी जाती है, जिसका विकास 16वीं शताब्दी में हुआ और 17वीं-18वीं शताब्दी में यह अपने चरम पर पहुँची। यह शैली अपने स्वतंत्र, जीवंत और लोकशैली से प्रभावित चित्रण के लिए जानी जाती है।

विशेषताएँ

1. स्पष्ट रेखांकन और रंग योजना – इस शैली की प्रमुख विशेषता मजबूत रेखांकन, लाल, पीले, हरे और नीले जैसे चमकीले रंगों का उपयोग और विस्तृत पृष्ठभूमि है।
2. लोकप्रिय विषय-वस्तु – इसमें रामायण, महाभारत, भागवत पुराण, गीत गोविंद तथा रागमाला जैसे धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथों के चित्रण के अलावा दरबारी जीवन, युद्ध, शिकार, त्योहार और राजाओं के छवि चित्रण भी मिलते हैं।
3. स्थानीय परिदृश्य और वास्तुकला – चित्रों में राजस्थान की पहाड़ियों, झीलों, किलों, महलों और मंदिरों को प्रमुखता दी जाती है।
4. भावनात्मक अभिव्यक्ति – मानव आकृतियों में चेहरे पर स्पष्ट भावनाएँ दर्शाने का विशेष ध्यान रखा जाता था।
5. विस्तृत सजावट और अलंकरण – चित्रों में परिधानों, आभूषणों और वस्त्रों की सजावट अत्यंत सूक्ष्म और विस्तृत होती थी।

विकास और महत्वपूर्ण कलाकार

प्रारंभिक काल (16वीं शताब्दी) – यह दौर लोकशैली से प्रभावित था, जिसमें सरल रेखाएँ और चटक रंगों का प्रयोग होता था।

साहिबदीन (17वीं शताब्दी) – मेवाड़ शैली के सबसे प्रसिद्ध चित्रकारों में से एक, जिन्होंने रागमाला (1628), भागवत पुराण (1648) और रामायण युद्धकांड (1652) का चित्रण किया।

मनोहर (17वीं शताब्दी) – इन्होंने रामायण बालकांड (1649) चित्रित किया।

जगन्नाथ (18वीं शताब्दी) – 1719 में बिहारी सतसई के चित्र बनाए, जो इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

नाथद्वारा और पिछवाई चित्रकला

17वीं शताब्दी के अंत में नाथद्वारा (उदयपुर के पास) वैष्णव धर्म का प्रमुख केंद्र बन गया, जहाँ भगवान श्रीनाथजी के बड़े-बड़े चित्र कपड़े पर बनाए जाते थे, जिन्हें पिछवाई कहा जाता है। ये चित्र श्रीनाथजी के विभिन्न स्वरूपों, त्योहारों और लीला प्रसंगों को दर्शाते थे। 18वीं शताब्दी में परिवर्तन इस काल में चित्रों का विषय दरबारी घटनाओं और राजाओं के जीवन की ओर बढ़ा। छवि चित्रण (portrait painting) लोकप्रिय हुआ। बड़े आकार के भित्ति चित्र (wall paintings) बनने लगे।

मेवाड़ चित्रशैली राजस्थानी चित्रकला का सबसे महत्वपूर्ण केंद्र रही, जिसने भारतीय लघुचित्र परंपरा में अपनी विशेष पहचान बनाई। इसकी प्रभावशाली रंग योजना, स्पष्ट रेखांकन, धार्मिकता और लोकजीवन से जुड़ी भावनाएँ इसे अन्य शैलियों से अलग करती हैं।

बूँदी चित्रकला शैली

बूँदी चित्रकला शैली राजस्थानी लघुचित्र परंपरा की सबसे सुंदर और सजीव शैलियों में से एक मानी जाती है। 17वीं शताब्दी में विकसित हुई यह शैली अपनी रंग योजना, वास्तु चित्रण और प्रकृति के मनोरम दृश्यों के लिए प्रसिद्ध है। बूँदी शैली पर मुगल चित्रकला का प्रभाव भी देखा जा सकता है, लेकिन इसमें राजस्थानी परंपराओं की गहरी जड़ें बनी रहीं।

मुख्य विशेषताएँ

1. उत्तम रंग संयोजन – बूँदी शैली में गहरे और चमकीले रंगों का विशेष प्रयोग किया जाता था, विशेष रूप से हरा, नीला, केसरिया और सुनहरा रंग प्रमुख थे।
2. सघन प्रकृति चित्रण – इस शैली की एक विशिष्टता पेड़-पौधों, पहाड़ों, झरनों, पशु-पक्षियों और हरे-भरे परिदृश्यों का अत्यंत आकर्षक चित्रण था।
3. मानव आकृतियों की विशेषता – स्त्री और पुरुष आकृतियाँ आमतौर पर नाटी, गोल चेहरे वाली, तीक्ष्ण नाक और बड़ी आँखों वाली होती थीं।
4. वास्तुशिल्प एवं भूदृश्य – चित्रों में महलों, किलों, बाग-बगीचों, तालाबों और छतरियों को खूबसूरती से दर्शाया जाता था।
5. संगीत और काव्य का प्रभाव – बूँदी शैली में रागमाला, बारहमासा, गीत-गोविंद तथा भागवत पुराण के प्रसंग प्रमुख रूप से चित्रित किए गए।
6. मुगल प्रभाव – मानव आकृतियों के कोमल भाव, सूक्ष्म अलंकरण और दरबारी जीवन के चित्रण में मुगलों की शैली का प्रभाव दिखता है।

विकास और प्रमुख कलाकार

प्रारंभिक काल (16वीं-17वीं शताब्दी) – इस दौर के चित्रों में लोकशैली का प्रभाव स्पष्ट था। 1591 ई. में बूँदी रागमाला चित्रित हुई, जिसे इस शैली की आरंभिक रचना माना जाता है।

राव छत्रसाल (1631-59) और राव भावसिंह (1659-82) – इनके शासनकाल में बूँदी चित्रशैली ने विशेष उन्नति की। राजा राव छत्रसाल के समय में कलाकारों ने मुगल दरबार में भी कार्य किया, जिससे शैली को परिष्कृत स्वरूप मिला।

राजा उमेद सिंह (1749-71) – इस काल में चित्रों में सूक्ष्म विवरण और उत्कृष्ट रंग संयोजन का प्रयोग बढ़ा। बिशन सिंह (1771-1821) – इस काल में बूँदी चित्रशैली का स्वर्णयुग रहा, जिसमें शिकार दृश्य, दरबारी उत्सव, संगीत और नृत्य के प्रसंगों को प्रमुखता दी गई।

प्रमुख विषय-वस्तु

1. धार्मिक ग्रंथों का चित्रण – रामायण, भागवत पुराण, महाभारत, गीत-गोविंद और रागमाला के प्रसंग प्रमुख थे।
2. शिकार दृश्य – बूँदी शैली विशेष रूप से राजाओं के शिकार दृश्यों के लिए प्रसिद्ध थी, जिसमें बाघ, हाथी और अन्य जंगली जानवरों का शिकार दिखाया जाता था।
3. दरबारी जीवन – महलों में उत्सव, नृत्य, संगीत और सभा दृश्यों को चित्रित किया जाता था।
4. बारहमासा चित्रण – वर्ष के बारह महीनों को दर्शाने वाली चित्र श्रृंखला बूँदी शैली में विशेष रूप से लोकप्रिय थी।

बूँदी और कोटा चित्रशैली का संबंध

कोटा चित्रशैली, बूँदी की एक शाखा के रूप में विकसित हुई। 17वीं शताब्दी तक दोनों शैलियाँ एक समान थीं, लेकिन धीरे-धीरे कोटा ने अपने विषयों में विशेष रूप से शिकार दृश्यों और दरबारी भव्यता को अपनाया, जबकि बूँदी शैली ने काव्यात्मकता और प्रकृति चित्रण को अधिक महत्व दिया।

बूँदी चित्रशैली अपनी रंग योजना, परिदृश्य चित्रण और शिकार दृश्यों के लिए राजस्थानी चित्रकला में एक अनूठा स्थान रखती है। इसमें न केवल मुगल शैली का प्रभाव देखा जाता है, बल्कि इसमें राजस्थानी लोककला का भी अनूठा समावेश है। 18वीं शताब्दी में इस शैली ने अपने चरम को प्राप्त किया और इसकी उत्कृष्ट कृतियाँ आज भी भारतीय कला की अमूल्य धरोहर मानी जाती हैं।

कोटा चित्रकला शैली

कोटा चित्रकला शैली **राजस्थानी लघुचित्र परंपरा** की एक महत्वपूर्ण शाखा है, जो विशेष रूप से अपने **शिकार दृश्यों और जीवंत दरबारी चित्रों** के लिए जानी जाती है। यह शैली 17वीं शताब्दी के मध्य में

विकसित हुई और 18वीं-19वीं शताब्दी में अपने चरम पर पहुँची। बूँदी चित्रकला से प्रभावित होकर कोटा शैली ने धीरे-धीरे अपनी एक अलग पहचान बना ली, जिसमें भव्य दृश्य संयोजन, गतिशील आकृतियाँ और विस्तृत प्राकृतिक परिदृश्य देखने को मिलते हैं।

प्रमुख विशेषताएँ

1. **शिकार दृश्यों का उत्कृष्ट चित्रण** – कोटा चित्रशैली की सबसे प्रमुख विशेषता जंगली पशुओं के शिकार दृश्यों का सजीव चित्रण है, जिसमें बाघ, हाथी, गैंडे और हिरण का शिकार करते हुए राजाओं को दिखाया जाता है।
2. **गतिशीलता और यथार्थवाद** – अन्य राजस्थानी शैलियों की अपेक्षा कोटा चित्रकला अधिक गतिशील और यथार्थवादी थी। चित्रों में गति, तनाव और घटनाओं की नाटकीयता को बारीकी से दर्शाया जाता था।
3. **प्राकृतिक दृश्यों की सजीवता** – जंगल, झीलें, पहाड़, वृक्ष, बादल और झरनों को अत्यधिक विस्तार और सूक्ष्मता के साथ चित्रित किया जाता था, जिससे चित्रों में गहराई और जीवन्तता आ जाती थी।
4. **दरबारी जीवन का चित्रण** – कोटा शैली में राजाओं के मनोरंजन, संगीत सभाएँ, नृत्य, त्यौहार और धार्मिक अनुष्ठानों को भी सुंदरता से उकेरा गया है।
5. **मुख्य रंग और तकनीक** – इस शैली में चटक रंगों जैसे लाल, हरा, नीला और पीला का प्रयोग अधिक किया जाता था। चित्रों की रेखाएँ स्पष्ट और प्रभावशाली होती थीं, और विशेष रूप से आकृतियों को अधिक यथार्थवादी बनाने पर ध्यान दिया जाता था।

विकास और प्रमुख संरक्षक

शुरुआती दौर (17वीं शताब्दी) – कोटा चित्रकला की शुरुआत बूँदी शैली से प्रभावित होकर हुई। प्रारंभिक चित्रों में दरबारी जीवन और धार्मिक विषय प्रमुख थे।

राजा जगत सिंह (1658-1684) – इनके शासनकाल में कोटा चित्रशैली की नींव मजबूत हुई। चित्रों में शिकार और युद्ध के दृश्यों को अधिक महत्व दिया जाने लगा।

राजा राम सिंह प्रथम (1686-1708) – इस काल में कोटा शैली का वास्तविक विकास हुआ। कलाकारों ने वन्यजीवन, दरबारी क्रियाकलापों और युद्ध दृश्यों को अधिक प्रमुखता से चित्रित किया।

राजा उमेद सिंह (1770-1819) – इस काल में कोटा चित्रकला अपने स्वर्ण युग में पहुँची। उन्होंने अपने शासनकाल में कला को संरक्षण दिया और शिकार दृश्यों को चित्रकला में प्रमुख रूप से उकेरवाया।

19वीं शताब्दी का परिदृश्य – इस समय तक कोटा चित्रशैली अपने चरम पर पहुँच चुकी थी, और यह राजस्थान की अन्य प्रमुख चित्रकला शैलियों में से एक बन गई थी।

प्रमुख विषय-वस्तु

1. **शिकार और युद्ध दृश्य** – राजाओं को घुड़सवारी करते हुए या शिकार के दौरान जानवरों का पीछा करते हुए दिखाया जाता था। इन चित्रों में गति और रोमांच का प्रभावशाली प्रदर्शन किया जाता था।
2. **दरबारी एवं उत्सवी जीवन** – दरबार में नृत्य-संगीत, त्यौहार, मनोरंजन, उत्सव और भव्य समारोहों को चित्रित किया जाता था।
3. **धार्मिक चित्रण** – *भागवत पुराण*, *रामायण*, *महाभारत* और अन्य पौराणिक ग्रंथों के प्रसंगों को चित्रित किया जाता था।
4. **राजाओं और संतों के छवि चित्रण** – कोटा शैली में राजाओं और संतों के व्यक्तिगत चित्र बनाए जाते थे, जिनमें उनके व्यक्तित्व और भव्यता को उकेरा जाता था

कोटा चित्रकला शैली **राजस्थानी लघुचित्र परंपरा** की एक अनूठी धरोहर है, जो अपनी **शिकार दृश्यों की यथार्थवादी प्रस्तुति, गतिशीलता और भव्यता** के कारण अलग पहचान रखती है। इस शैली ने **राजाओं की वीरता, दरबारी जीवन और प्रकृति के सौंदर्य** को प्रभावी ढंग से चित्रित किया। 18वीं और 19वीं शताब्दी में कोटा चित्रशैली अपने चरम पर थी, और इसने **भारतीय लघुचित्र परंपरा** को समृद्ध किया। आज भी कोटा शैली के चित्र भारत और विदेशों में कलाप्रेमियों के लिए अत्यंत मूल्यवान माने जाते हैं और यह राजस्थान की कला विरासत का एक गौरवशाली उदाहरण है।

बीकानेर चित्रकला शैली

बीकानेर चित्रकला शैली **राजस्थानी लघुचित्र परंपरा** की एक विशिष्ट शाखा है, जो अपने **मुगल प्रभाव, सूक्ष्म रेखांकन और विस्तृत अलंकरण** के लिए प्रसिद्ध है। इस शैली का विकास 17वीं शताब्दी में हुआ और यह 18वीं-19वीं शताब्दी में अपने चरम पर पहुँची। बीकानेर के शासकों ने मुगल दरबार से घनिष्ठ संबंध बनाए रखे, जिससे यहाँ की चित्रकला पर मुगल सौंदर्यशास्त्र का गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रमुख विशेषताएँ

1. **मुगल शैली का प्रभाव** – बीकानेर शैली में मुगल चित्रकला की कोमलता, यथार्थवाद और परिष्कृत आभूषणों एवं वस्त्रों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जाता है।

2. **सूक्ष्म रेखांकन और रंग संयोजन** – इस शैली में बारीक रेखाएँ, चमकीले रंग और विस्तृत अलंकरण प्रमुख होते हैं। रंग संयोजन में लाल, नीला, हरा और सुनहरे रंगों का प्रयोग किया जाता था।
3. **मानव आकृतियों की विशेषता** – चेहरे सुंदर, भावनात्मक और शिष्ट होते थे। पुरुषों की मूछें और पगड़ियाँ विशेष रूप से अलंकृत होती थीं।
4. **वास्तु और प्राकृतिक दृश्य** – चित्रों में भव्य महल, बाग-बगीचे, फव्वारे और विस्तृत परिदृश्य का अद्भुत चित्रण किया जाता था।
5. **पांडुलिपि चित्रण पर विशेष ध्यान** – बीकानेर में सचित्र पांडुलिपियाँ बनाने की परंपरा अत्यंत समृद्ध थी। इनमें धार्मिक ग्रंथों, प्रेम कथाओं और ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण किया जाता था।

विकास और प्रमुख संरक्षक

राव बीका (1488-1504) द्वारा बीकानेर की स्थापना – बीकानेर राज्य की स्थापना के समय कला का उतना विकास नहीं हुआ था, लेकिन बाद में यह एक महत्वपूर्ण चित्रकला केंद्र बना।

करण सिंह (1631-1669) – उन्होंने मुगल कलाकारों को बीकानेर आमंत्रित किया, जिससे चित्रशैली अधिक परिष्कृत हुई।

अनूप सिंह (1669-1698) – उनके शासनकाल में पुस्तकालय और चित्रशालाओं की स्थापना हुई, जिससे सचित्र पांडुलिपियों का निर्माण बड़े पैमाने पर हुआ।

गजे सिंह (1746-1787) और सुरत सिंह (1787-1828) – इस काल में बीकानेर चित्रशैली अपने स्वर्ण युग में पहुँची और चित्रों में अत्यधिक सूक्ष्मता और सुंदरता देखने को मिली।

प्रमुख विषय-वस्तु

1. **धार्मिक ग्रंथों का चित्रण** – *भागवत पुराण*, *रामायण*, *महाभारत* और *गीता गोविंद* के प्रसंगों को चित्रित किया गया।
2. **राजाओं और संतों के छवि चित्रण** – बीकानेर शैली में राजाओं और संतों के व्यक्तिगत चित्र बनाए जाते थे, जिनमें उनके व्यक्तित्व और भव्यता को उकेरा जाता था।
3. **दरबारी जीवन और उत्सव** – महलों में नृत्य-संगीत, त्यौहार, शाही समारोह और शिकार के दृश्यों को विशेष महत्व दिया गया।
4. **सचित्र पांडुलिपियाँ** – बीकानेर में चित्रशाला बनाने की प्रथा थी, जिन्हें "मंडी" कहा जाता था, जहाँ कलाकारों का एक समूह सचित्र पांडुलिपियाँ तैयार करता था।

5. **प्राकृतिक दृश्य और वास्तुकला** – चित्रों में विस्तृत बाग-बगीचे, महल, छतरियाँ और नदी-झीलों का मनोहारी चित्रण किया जाता था।

बीकानेर शैली की चित्रशालाएँ और प्रमुख कलाकार

बीकानेर में चित्रशालाओं को "मंडी" कहा जाता था। इनमें कार्य करने वाले कलाकारों का उल्लेख पांडुलिपियों और चित्रों पर किया जाता था।

उस्ताद अली रज़ा – ये दिल्ली से बीकानेर आए और इस शैली को समृद्ध किया।

रुकनुद्दीन – इन्होंने मुगल और दक्खिनी प्रभाव को मिलाकर एक नई शैली विकसित की।

इब्राहिम, नाथू और साहिबदीन – ये प्रसिद्ध चित्रकार थे, जिन्होंने विभिन्न धार्मिक ग्रंथों को सचित्र बनाया।

बीकानेर शैली की चित्रशालाएँ व्यावसायिक रूप से संगठित थीं और चित्र तैयार होने के बाद दरबारी अभिलेखों में कलाकार का नाम और निर्माण तिथि दर्ज की जाती थी। बीकानेर चित्रशैली **राजस्थानी और मुगल परंपराओं का सुंदर समन्वय** है। इसकी विशेषता **सूक्ष्म चित्रण, चमकीले रंग, सचित्र पांडुलिपियाँ और मुगल प्रभाव** में निहित है। 17वीं और 18वीं शताब्दी में यह शैली अत्यंत उन्नत थी और इसने भारतीय लघुचित्र परंपरा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आज भी बीकानेर चित्रशैली भारतीय कला प्रेमियों और शोधकर्ताओं के लिए एक अमूल्य धरोहर है, जो राजस्थान की समृद्ध सांस्कृतिक और कलात्मक विरासत को दर्शाती है।

किशनगढ़ चित्रकला शैली

किशनगढ़ चित्रकला शैली **राजस्थानी लघुचित्र परंपरा** की सबसे रोमांटिक और काव्यात्मक शैलियों में से एक मानी जाती है। यह शैली अपनी विशिष्ट **स्त्री आकृतियों, भावनात्मकता और भव्य दृश्य संयोजन** के लिए प्रसिद्ध है। किशनगढ़ शैली का विकास 17वीं शताब्दी में हुआ और 18वीं शताब्दी में इसने अपने स्वर्ण युग को प्राप्त किया।

मुख्य विशेषताएँ

1. **अद्वितीय स्त्री आकृति** – किशनगढ़ शैली की सबसे बड़ी विशेषता **बनी-ठनी** जैसी स्त्री आकृतियाँ हैं, जिनकी लंबी धनुषाकार भौहें, कमल पंखुड़ी जैसी आँखें, नुकीली नाक और पतली कमर होती हैं।
2. **भावनात्मकता और काव्यात्मकता** – चित्रों में प्रेम, भक्ति और रहस्यवाद का गहरा समावेश होता था, विशेष रूप से राधा-कृष्ण की प्रेम गाथाएँ प्रमुख विषय रहती थीं।

3. **प्राकृतिक दृश्य और वास्तुचित्रण** – चित्रों में विस्तृत बाग-बगीचे, तालाब, महल और हरे-भरे परिदृश्य को दर्शाया जाता था।
4. **वस्त्र एवं अलंकरण** – महिलाओं के वस्त्र अत्यंत अलंकृत और महीन होते थे, जिनमें सुनहरे और चांदी के रंगों का प्रयोग किया जाता था। पुरुषों की पोशाक भी भव्य होती थी।
5. **रंग संयोजन** – किशनगढ़ चित्रशैली में **हरे, नीले, गुलाबी, लाल और सुनहरे रंगों** का विशेष प्रयोग किया जाता था।
6. **मुगल प्रभाव** – मुगल चित्रकला की सूक्ष्मता और परिष्कृतता का प्रभाव किशनगढ़ शैली में देखा जा सकता है, विशेषकर चेहरे के भावों और वस्त्र अलंकरण में।

विकास और प्रमुख संरक्षक

राजा मानसिंह (1658-1706) – इनके शासनकाल में किशनगढ़ में चित्रकला को बढ़ावा मिला और कलाकार दरबार से जुड़े।

राजा सावंत सिंह (1748-1757) – किशनगढ़ चित्रशैली का स्वर्ण युग राजा सावंत सिंह के शासनकाल में आया। वे स्वयं एक कवि थे और "नागरीदास" नाम से कृष्ण भक्ति पर कविताएँ लिखते थे।

निहालचंद (18वीं शताब्दी) – किशनगढ़ शैली के सबसे प्रसिद्ध चित्रकार, जिन्होंने राधा-कृष्ण के दिव्य प्रेम को चित्रित किया। उन्होंने "बनी-ठनी" श्रृंखला के चित्र बनाए, जिन्हें किशनगढ़ शैली की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ माना जाता है।

प्रमुख विषय-वस्तु

1. **राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंग** – इस शैली में राधा-कृष्ण को **आदर्श प्रेमी-प्रेमिका** के रूप में चित्रित किया गया है।
2. **धार्मिक और भक्ति चित्रण** – *भागवत पुराण*, *गीत-गोविंद* और *रासलीला* से संबंधित चित्र प्रमुख हैं।
3. **राजा और दरबारी जीवन** – राजाओं और दरबारियों के छवि चित्र भी इस शैली में बनाए गए।
4. **प्राकृतिक दृश्य और लोक जीवन** – हरे-भरे बाग-बगीचों, झीलों और महलों का चित्रण अत्यंत सुंदरता से किया गया।

बनी-ठनी: किशनगढ़ शैली की अमर कृति

"बनी-ठनी" किशनगढ़ चित्रकला की सबसे प्रसिद्ध पेंटिंग है, जिसे निहालचंद ने चित्रित किया था। इसे भारतीय "मोनालिसा" भी कहा जाता है। यह चित्र **राजा सावंत सिंह की प्रेमिका या भक्त प्रिया**

विशाखा का माना जाता है। इसमें राधा का रूप है, जो दिव्य सौंदर्य और प्रेम का प्रतीक है। किशनगढ़ चित्रकला शैली **भारतीय कला में प्रेम, भक्ति और सौंदर्य की पराकाष्ठा** है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी **भावनात्मक स्त्री आकृतियाँ** और **राधा-कृष्ण विषयक चित्र** हैं। इस शैली ने भारतीय लघुचित्र परंपरा में एक **अद्वितीय और अनूठा योगदान** दिया, जो आज भी कला प्रेमियों और शोधकर्ताओं को आकर्षित करता है।

जोधपुर चित्रकला शैली

जोधपुर चित्रकला शैली राजस्थान की प्रमुख लघुचित्र शैलियों में से एक है, जो अपनी **युद्ध, वीरता, राजसी जीवन और धार्मिक विषयों** के लिए प्रसिद्ध है। इस शैली का विकास 17वीं शताब्दी में हुआ और 18वीं-19वीं शताब्दी में इसका स्वर्णकाल रहा। इसमें राजस्थानी परंपरा के साथ-साथ मुगल और स्थानीय लोक शैली का प्रभाव भी देखा जाता है।

मुख्य विशेषताएँ

1. **युद्ध और वीरता के दृश्य** – जोधपुर चित्रशैली में युद्ध, घुड़सवारी, तलवारबाजी और वीरता से जुड़े चित्रों का प्रमुखता से चित्रण किया गया है।
2. **राजसी जीवन का भव्य चित्रण** – दरबारी उत्सव, संगीत, नृत्य, शिकार, महल और जुलूसों को बड़े विस्तार और जीवंतता के साथ दर्शाया गया।
3. **धार्मिक विषय-वस्तु** – कृष्ण लीला, रामायण, भागवत पुराण और वल्लभ संप्रदाय से जुड़े प्रसंगों को चित्रों में उकेरा गया।
4. **मजबूत एवं स्पष्ट रेखांकन** – इस शैली में आकृतियाँ ठोस, स्पष्ट और मजबूत दिखाई देती हैं, जो अन्य राजस्थानी शैलियों से अलग है।
5. **रंग संयोजन** – लाल, पीला, नीला और हरा प्रमुख रंग थे, जो चित्रों में गहराई और भव्यता लाते थे।
6. **स्थानीय वास्तुकला और परिदृश्य** – जोधपुर के किले, महल, दरबार, राजसी वस्त्र और आभूषणों का सजीव चित्रण किया गया।
7. **नाथ संप्रदाय का प्रभाव** – जोधपुर शासक नाथ संप्रदाय से जुड़े थे, जिससे इस चित्रकला में नाथ योगियों और संतों के चित्रण को विशेष स्थान मिला।

विकास और प्रमुख संरक्षक

महाराजा जसवंत सिंह (1638-1678) – उनके शासनकाल में जोधपुर चित्रकला की शुरुआत हुई। *रागमाला* चित्र श्रृंखला इसी समय चित्रित हुई।

अजित सिंह (1679-1724) – इन्होंने औरंगजेब के खिलाफ 25 वर्षों तक युद्ध किया, जिससे युद्ध चित्रण जोधपुर शैली में प्रमुखता से उभरा।

महाराजा अभय सिंह (1724-1749) – इस काल में दरबारी जीवन, शाही मनोरंजन और धार्मिक विषयों पर चित्रण हुआ।

महाराजा मानसिंह (1803-1843) – इनके शासनकाल में जोधपुर चित्रशैली अपने स्वर्णकाल में पहुँची। इस दौरान *रामायण*, *शिव पुराण* और *ढोला-मारू* जैसे ग्रंथों पर आधारित चित्र तैयार किए गए।

प्रमुख विषय-वस्तु

1. **राजाओं के छवि चित्रण** – जोधपुर शैली में शासकों के शक्तिशाली और वीरतापूर्ण चित्र बनाए गए।
2. **युद्ध और शिकार दृश्य** – तलवारबाजी, घुड़सवारी, बाघ और शेर के शिकार के चित्र प्रमुख थे।
3. **धार्मिक चित्रण** – *रामायण*, *महाभारत*, *नाथ संप्रदाय* और *कृष्ण लीला* से जुड़ी घटनाओं का चित्रण किया गया।
4. **दरबारी जीवन और उत्सव** – महलों में होने वाले आयोजन, नृत्य, संगीत और उत्सवों के दृश्य चित्रित किए गए।
5. **घुड़सवारों और योद्धाओं का चित्रण** – वीरता और पराक्रम को दर्शाने के लिए राजाओं और योद्धाओं की घुड़सवारी करते हुए विशेष चित्र बनाए गए।

जोधपुर चित्रकला शैली वीरता, युद्ध और राजसी भव्यता का प्रतीक है। इस शैली में राजाओं और योद्धाओं की छवियों को विशेष रूप से उकेरा गया, जिससे यह अन्य राजस्थानी शैलियों से अलग दिखाई देती है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में इस शैली ने राजपूत परंपरा और धार्मिक विषयों को भी चित्रित किया, जिससे यह **राजस्थानी कला की एक विशिष्ट धरोहर** बन गई। आज भी जोधपुर शैली की चित्रकृतियाँ भारतीय कला प्रेमियों और इतिहासकारों के लिए अत्यंत मूल्यवान मानी जाती हैं।

जयपुर चित्रकला शैली

जयपुर चित्रकला शैली राजस्थानी लघुचित्र परंपरा की सबसे समृद्ध और परिष्कृत शैलियों में से एक मानी जाती है। यह शैली **मुगल प्रभाव, भव्य दरबारी दृश्यों और वैष्णव भक्ति चित्रण** के लिए प्रसिद्ध है। जयपुर की चित्रकला का विकास 16वीं शताब्दी में हुआ और 18वीं-19वीं शताब्दी में यह अपने चरम पर पहुँची।

मुख्य विशेषताएँ

1. **मुगल और राजस्थानी परंपराओं का मिश्रण** – जयपुर चित्रशैली में मुगल चित्रकला की सूक्ष्मता और राजस्थानी चित्रकला की जीवंतता का अद्भुत समावेश था।

2. **राजसी भव्यता और दरबारी जीवन** – इस शैली में दरबार, उत्सव, शाही जुलूस, नृत्य, संगीत और महलों के भीतर की गतिविधियों को प्रमुखता दी गई।
3. **धार्मिक और साहित्यिक चित्रण** – कृष्ण लीला, राधा-कृष्ण, रामायण, महाभारत, गीत-गोविंद, रागमाला और भागवत पुराण के प्रसंग चित्रित किए गए।
4. **विस्तृत स्थापत्य और प्राकृतिक दृश्य** – चित्रों में राजमहल, उद्यान, मंदिर, बाग-बगीचे, झीलें और वास्तुशिल्प का सुंदर संयोजन दिखता है।
5. **मुख्य रंग और शैली** – चित्रों में गहरे और चटकीले रंगों (लाल, नीला, पीला, हरा और सुनहरा) का प्रयोग किया जाता था।
6. **छवि चित्रण (पोर्ट्रेट पेंटिंग)** – जयपुर शैली में राजाओं, दरबारियों और संतों के व्यक्तिगत चित्र बनाए गए, जिनमें उनकी भव्यता और व्यक्तित्व को उकेरा गया।

विकास और प्रमुख संरक्षक

राजा भारमल (1548-1575) – उन्होंने अकबर से वैवाहिक संबंध स्थापित किए, जिससे मुगल चित्रकला का प्रभाव आमेर (प्राचीन जयपुर) में बढ़ा।

सवाई जय सिंह (1699-1743) – इनके शासनकाल में जयपुर की स्थापना (1727) हुई और चित्रकला को संरक्षण मिला। मुगल कलाकारों को जयपुर बुलाया गया, जिससे यह शैली अधिक समृद्ध हुई।

सवाई प्रताप सिंह (1779-1803) – वे स्वयं एक विद्वान और कृष्ण भक्त थे। उनके शासनकाल में **राधा-कृष्ण विषयक चित्रों** का अधिक निर्माण हुआ।

सवाई राम सिंह (1835-1880) – इस समय जयपुर में चित्रकला के साथ-साथ छायाचित्र (फोटोग्राफी) का भी प्रचलन बढ़ा।

प्रमुख विषय-वस्तु

1. **राधा-कृष्ण और वैष्णव भक्ति** – जयपुर चित्रशैली में कृष्ण भक्ति और पुष्टिमार्गीय परंपरा को प्रमुख स्थान मिला।
2. **दरबारी जीवन और शाही भव्यता** – महल में उत्सव, शिकार, सैन्य परेड, जुलूस और राजसी गतिविधियों को चित्रित किया गया।
3. **धार्मिक ग्रंथों का चित्रण** – *भागवत पुराण*, *रामायण*, *महाभारत*, *गीत-गोविंद*, *रसिकप्रिया* और *रागमाला* पर आधारित चित्रण प्रमुख थे।

4. **नारी सौंदर्य और श्रृंगार** – जयपुर शैली में महिलाओं को सुंदर परिधानों और आभूषणों के साथ चित्रित किया गया।

5. **प्राकृतिक दृश्य और स्थापत्य कला** – चित्रों में बगीचे, तालाब, मंदिर, महल और विस्तृत परिदृश्य को सुंदरता से दर्शाया गया।

जयपुर चित्रकला शैली भव्यता, भक्ति और राजसी सौंदर्य का प्रतीक है। इसमें **मुगल चित्रकला की परिष्कृत शैली और राजस्थानी चित्रकला की पारंपरिक जीवंतता** का सुंदर संयोजन देखने को मिलता है। 18वीं और 19वीं शताब्दी में जयपुर शैली ने न केवल **राजस्थानी कला की पहचान बनाई**, बल्कि यह **भारतीय लघुचित्र परंपरा** की एक महत्वपूर्ण धरोहर भी बनी। आज भी जयपुर की चित्रकृतियाँ **संग्रहालयों, मंदिरों और महलों में** सुरक्षित हैं और भारतीय कला प्रेमियों को आकर्षित करती हैं।

राजस्थानी चित्रकला शैली भारतीय लघुचित्र परंपरा का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसमें विभिन्न रियासतों ने अपने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार कला को संवारा। प्रत्येक शैली अपनी अनूठी विशेषताओं, रंग संयोजन और विषय-वस्तु के कारण विशिष्ट पहचान रखती है। समय के साथ, राजस्थानी चित्रकला ने मुगल, दक्कनी और लोक कलाओं के प्रभाव को आत्मसात किया, जिससे यह और अधिक समृद्ध होती चली गई। यह शैली भारतीय कला परंपरा की अमूल्य धरोहर के रूप में स्थापित हुई और आज भी भारतीय कला प्रेमियों को आकर्षित करती है।

संदर्भ :-

1. स्मिता, अर्चना. (2010). राजस्थानी चित्रकला: एक ऐतिहासिक अध्ययन. नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट.
2. सिंह, क. क. (2015). राजस्थान की लघु चित्रकला. जयपुर: ज्ञान गंगा.
3. रणछोड़दास, एम. एस. (2016). राजस्थान की चित्रकला शैलियाँ. आगरा: साहित्य भवन.
4. शर्मा, शिव कुमार. (2016). राजस्थानी चित्रकला और भारतीय कला परंपरा. नई दिल्ली: प्रभात पब्लिकेशन.
5. Führer, A. G. (1982). Painting of Rajasthan. Oxford: Oxford University Press.
6. गोस्वामी, अनिल. (2016). राजस्थान के शासकों की कला संरचना और चित्रकला परंपरा. जोधपुर: राजस्थानी शोध संस्थान.
7. भाटिया, वी. एस. (2015). राजस्थानी चित्रकला के विविध आयाम. नई दिल्ली: इंडियन आर्ट प्रेस.
8. Rupakala Trust. (2005). Miniature Paintings of Rajasthan. Mumbai: Rupakala Trust.
9. राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली. (1995). राजस्थान की चित्रकला प्रदर्शनी सूची. नई दिल्ली: भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण.
10. अग्रवाल, सुबोध. (2016). राजस्थानी चित्रकला और मुगल प्रभाव. वाराणसी: साहित्य सागर.

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

महात्मा गांधी और राष्ट्रभाषा हिंदी: हिंदुस्तानी भाषा, लिपि, और राष्ट्रनिर्माण की अवधारणा का भाषिक दृष्टिकोण से विश्लेषण

डॉ. अम्ब्रीश त्रिपाठी*

ambreesh.tripathi@gmail.com

सारांश:

यह शोध पत्र महात्मा गांधी की राष्ट्रभाषा संबंधी अवधारणा का भाषिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करता है। गांधीजी का राष्ट्रनिर्माण का विचार केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था, बल्कि वह भाषाई और सांस्कृतिक स्वराज्य को भी उतना ही महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने 'हिंदी' को राष्ट्रभाषा बनाने का अभियान चलाया और दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा तथा राष्ट्रभाषा प्रचार समिति जैसे संस्थानों की स्थापना की। उनके अनुसार, 'हिंदुस्तानी' भाषा – जो हिंदी और उर्दू का समन्वय थी – भारतीय जनमानस के संप्रेषण और एकता का सबसे उपयुक्त माध्यम थी। गांधीजी लिपि के महत्व को भी उतना ही आवश्यक मानते थे और उन्होंने देवनागरी लिपि के सरलीकरण का सुझाव दिया ताकि विभिन्न भाषाओं के बीच संप्रेषण सुगम हो सके। उनका भाषिक दृष्टिकोण लोकतांत्रिक, समावेशी और व्यावहारिक था, जिसमें भाषा को जन-जीवन से जोड़ने की सशक्त क्षमता थी। वर्तमान वैश्वीकरण और भाषिक संकटों के युग में गांधीजी की अवधारणाएँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं।

मुख्य शब्द :

महात्मा गांधी, राष्ट्रभाषा, हिंदी, हिंदुस्तानी, उर्दू, देवनागरी लिपि, भाषिक लोकतंत्र,राष्ट्र निर्माण,भाषा नीति, सांस्कृतिक स्वराज

प्रस्तावना

महात्मा गांधी का राष्ट्रनिर्माण का सपना केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था, वे सांस्कृतिक और भाषिक स्वतंत्रता को भी राष्ट्र की आत्मा मानते थे। उनका मानना था कि जब तक भारत की जनता अपनी मातृभाषा या जनभाषा में सोचने, बोलने और लिखने में समर्थ नहीं होगी, तब तक सच्चे अर्थों में स्वतंत्रता अधूरी रहेगी। इसी सोच के तहत उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का अभियान

* **सहायक प्रोफेसर (अस्थायी) सूचना एवं अभियांत्रिकी विभाग, भाषा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा**

प्रारंभ किया। वर्ष 1918 में प्रयाग में आयोजित 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' में उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि हिंदी ही वह भाषा है जो भारत के कोने-कोने में लोगों को आपस में जोड़ सकती है।

गांधीजी ने उसी वर्ष दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा की स्थापना की। इस संस्था का आदर्श वाक्य था – "एक राष्ट्र-भाषा हिंदी हो, एक हृदय हो भारत जननी।"[1] इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य केवल हिंदी पढ़ाना ही नहीं था, बल्कि दक्षिण भारत में हिंदी के लिए सकारात्मक वातावरण तैयार करना भी था। गांधीजी स्वयं इस संस्था के आजीवन अध्यक्ष रहे और उन्होंने इसके माध्यम से दक्षिण भारत के ग्रामों तक हिंदी शिक्षा की पहुँच सुनिश्चित की। आज भी यह संस्था अपने मूल उद्देश्य को निभाते हुए लाखों विद्यार्थियों को हिंदी सिखा रही है।

इसके बाद, जब महात्मा गांधी वर्धा में निवास करने लगे, तो उन्होंने सन् 1936 में 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' की स्थापना की। यह संस्था गांधीजी के राष्ट्रभाषा संबंधी विचारों को मूर्त रूप देने का एक प्रमुख माध्यम बनी। इस समिति के संस्थापकों में देश के प्रमुख स्वतंत्रता सेनानी और राष्ट्रनिर्माता शामिल थे, जिनमें डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन, पं. जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्र देव, आचार्य काका कालेलकर, सेठ जमनालाल बजाज, बाबा राघवदास, श्री शंकरदेव और पं. माखनलाल चतुर्वेदी जैसे नाम सम्मिलित हैं।[2]

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति न केवल भारत के विभिन्न राज्यों में कार्यरत रही, बल्कि इसने हिंदी प्रचार का विस्तार विदेशों तक किया। आज भारत के 20 से अधिक राज्यों में इसकी इकाइयाँ कार्यरत हैं और विश्व के 20 देशों में इसकी शाखाएँ सक्रिय हैं।[3] इस समिति के निरंतर प्रयासों का ही परिणाम है कि 14 सितंबर को हर वर्ष 'हिंदी दिवस' के रूप में मनाया जाता है। यह तिथि प्रतीक बन चुकी है भारत की भाषिक चेतना और सांस्कृतिक एकता का, जिसमें महात्मा गांधी के विचार आज भी प्रासंगिक और प्रेरणास्पद हैं।

इस प्रस्तावना के माध्यम से स्पष्ट होता है कि महात्मा गांधी का हिंदी प्रेम केवल भावनात्मक नहीं, अपितु व्यवहारिक और राष्ट्रनीति से जुड़ा हुआ था। उनके प्रयासों ने हिंदी को जनभाषा के रूप में स्थापित करने की दिशा में ठोस आधार प्रदान किया। आज जब हम वैश्वीकरण के दौर में भाषाई संकटों का सामना कर रहे हैं, तब गांधीजी के भाषिक दर्शन की पुनर्परीक्षा और पुनर्पाठ की आवश्यकता पहले से कहीं अधिक है।

हिंदुस्तानी भाषा की महत्ता

महात्मा गांधी ने राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया में भाषा को एक अत्यंत महत्वपूर्ण औजार माना। उनके लिए भाषा केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं थी, बल्कि वह सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय चेतना का वाहक भी थी। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने 'हिंदुस्तानी' भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में अपनाने की वकालत की। गांधीजी का यह प्रयास न तो किसी क्षेत्रीय आग्रह से प्रेरित था, न ही किसी जाति, धर्म अथवा

सम्प्रदाय विशेष की भावना से। उनका यह भाषिक दृष्टिकोण वैज्ञानिक, लोकतांत्रिक और व्यापक भारतीयता पर आधारित था

गांधी जी के अनुसार, 'हिंदुस्तानी' वह भाषा है जो हिंदी और उर्दू दोनों का समन्वय करती है और जिसमें न तो संस्कृत की भरमार है, न ही फारसी या अरबी शब्दों का बोझ। यह एक ऐसी लोक-भाषा है जो सीधे जनमानस से संवाद स्थापित कर सके, न कि ऐसी क्लिष्ट भाषा जो केवल विद्वानों के लिए समझने योग्य हो। गांधी जी की दृष्टि में हिंदुस्तानी वह सेतु है जो देश के विभिन्न भाषायी क्षेत्रों को जोड़ने का कार्य कर सकती है। यह भाषा विविधता में एकता की भावना को सुदृढ़ करती है।

उनकी चिंता इस बात को लेकर थी कि अंग्रेजी, एक विदेशी भाषा होने के बावजूद, पूरे भारत में प्रशासन, न्याय और शिक्षा का प्रमुख माध्यम बनी हुई थी, जबकि देश की प्रांतीय भाषाएं उपेक्षित थीं। वे अंग्रेजी को "मंत्र की भाषा" कहते थे, जिसे केवल अंग्रेज या पढ़े-लिखे अभिजात वर्ग ही समझ सकता था। आम भारतीय जनता, विशेष रूप से ग्रामीण और श्रमिक वर्ग, इससे पूरी तरह कटे हुए थे। गांधी जी ने चेताया कि यदि राष्ट्र की भाषा आम जनता की समझ से बाहर होगी, तो लोकतंत्र केवल एक दिखावा बनकर रह जाएगा।

गांधीजी के अनुसार राष्ट्रभाषा वही हो सकती है, जिसे अधिकतर लोग समझें, बोल सकें, और शेष लोग थोड़े प्रयास से सीख सकें। उन्होंने स्पष्ट कहा, "हिंदुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमें भारतीय भाषाओं में से एक ऐसी भाषा की ज़रूरत है, जिसे सबसे अधिक लोग जानते हों और बाकी के लोग आसानी से सीख सकें। इसमें शक नहीं कि हिंदी ही ऐसी भाषा है।"[4] वे आगे कहते हैं कि जब यही भाषा उर्दू लिपि में लिखी जाती है तो उसे उर्दू कहा जाता है। यह कथन इस बात को रेखांकित करता है कि गांधीजी लिपि के आधार पर भाषा को विभाजित करने के पक्षधर नहीं थे।

हिंदुस्तानी भाषा की सबसे बड़ी शक्ति उसकी व्यावहारिकता और सहजता है। यह भाषा भारत की बहुसंख्यक जनता द्वारा बोले जाने वाली हिंदी और उर्दू दोनों का समावेश कर जनसंचार की सशक्त भाषा बन सकती है। गांधी जी इस बात को भली-भांति समझते थे कि राष्ट्र की आत्मा उसके लोगों की भाषा में ही बसती है। अतः उन्होंने जीवनपर्यंत हिंदुस्तानी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकारने का आग्रह किया। इस प्रकार, गांधी जी की 'हिंदुस्तानी' भाषा की अवधारणा भारत की बहुभाषी, बहुसांस्कृतिक और लोकतांत्रिक संरचना के अनुकूल थी, जो आज भी भाषिक नीति और राष्ट्रनिर्माण की प्रक्रिया में अत्यंत प्रासंगिक है।

राष्ट्रभाषा संबंधी अवधारणा और उसका भाषिक विश्लेषण

महात्मा गांधी ने भाषा को केवल संप्रेषण का माध्यम नहीं, बल्कि राष्ट्र निर्माण का प्रभावी साधन माना। उनके अनुसार राष्ट्रभाषा केवल सत्ता की भाषा नहीं हो सकती, बल्कि वह ऐसी भाषा होनी चाहिए जो जनमानस से जुड़ी हो, जिसे देश के अधिकतर लोग न केवल बोल और समझ सकें, बल्कि जिसमें वे अपने

सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक कार्यों को सहजता से संपन्न कर सकें। इसी विचार के आधार पर गांधीजी ने राष्ट्रभाषा के पाँच आवश्यक लक्षण प्रस्तुत किए, जो आज भी भाषा नीति और भाषिक लोकतंत्र के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक हैं।

राष्ट्रभाषा के पाँच लक्षण[5]

1. वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।
2. उस भाषा द्वारा भारत का आपसी, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज हो सकना चाहिए।
3. उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों।
4. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान हो।
5. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या कुछ समय तक रहने वाली स्थिति पर जोर न दिया जाय।

ये पाँचों शर्तें गांधीजी ने 'हरिजन' पत्रिका के अपने लेखों और अपने भाषणों में बार-बार दोहराई हैं। उनके अनुसार यह स्पष्ट था कि अंग्रेजी इन शर्तों पर खरी नहीं उतरती।

गांधीजी के अनुसार, अंग्रेजी एक विदेशी भाषा है, जो भारत के आम जनजीवन के लिए न तो सहज है, न ही स्वाभाविक। उन्होंने लिखा - "अंग्रेजी हमारी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती। अंग्रेजी से मुझे कोई द्वेष नहीं है। कुछ विद्वानों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है; अंतरराष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए, और पश्चिमी विज्ञान के ज्ञान के लिए उसकी जरूरत है। लेकिन जब अंग्रेजी को वह स्थान दिया जाता है, जिसके योग्य वह है ही नहीं, तो मुझे दुःख होता है।"[6]

गांधीजी का तर्क था कि अंग्रेजी में महारत भारत की अधिकांश जनता के लिए आजीवन कठिन कार्य है। 98% से अधिक भारतीय इस दौड़ में पिछड़ जाते हैं, और इस प्रक्रिया में राष्ट्र का अमूल्य समय और ऊर्जा नष्ट होती है। अंग्रेजी "मंत्र की भाषा" बन गई है – जिसे केवल अभिजात वर्ग समझ पाता है, न कि साधारण नागरिक। गांधीजी ने स्पष्ट रूप से कहा कि राष्ट्रभाषा के लिए हिंदी से उपयुक्त कोई और भाषा नहीं है। हिंदी में वह स्वाभाविकता, व्यवहारिकता और व्याप्तता है जो इसे पूरे भारत में संवाद की भाषा बना सकती है। उन्होंने कहा: "ये पाँच लक्षण रखने में हिंदी से होड़ करने वाली और कोई भाषा नहीं है। हिंदी के बाद दूसरा दर्जा बंगला का है। फिर भी बंगाली लोग बंगाल के बाहर हिंदी का उपयोग करते हैं। हिंदी बोलने वाले जहाँ जाते हैं हिंदी का ही उपयोग करते हैं और इससे किसी को अचम्भा नहीं होता।"[7]

गांधीजी ने अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कहा कि उन्होंने द्रविड़ प्रान्तों में भी हिंदी का व्यवहार सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने यह भी देखा कि मद्रास के मुसलमान भाई हिंदी को अच्छी तरह से बोल और समझ सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हिंदी का क्षेत्रीय सीमाओं से परे एक व्यवहारिक स्वरूप है।

हिंदी और उर्दू का संबंध

गांधीजी हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ नहीं मानते थे, बल्कि वे उन्हें एक ही भाषा के दो रूपों के रूप में स्वीकार करते थे। उनके अनुसार, "उत्तर भारत के हिन्दू और मुसलमान दोनों इस भाषा को बोलते और समझते हैं। यही भाषा जब उर्दू लिपि में लिखी जाती है तो उर्दू कहलाती है।"[8]

गांधीजी ने यह भी कहा कि उर्दू और हिंदी के बीच का झगड़ा कृत्रिम है। असल में यह धार्मिक और राजनीतिक कारणों से पैदा हुआ है। उनका यह कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है: "यदि मुसलमान लोग हिंदी का एक शब्द भी प्रयोग न करने की कसम खा लें, तो भी वे ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों भाषाओं का व्याकरण एक जैसा है। इसी प्रकार हिंदी वाले भी उर्दू और फारसी के शब्दों को पूरी तरह नहीं निकाल सकते।"

वे तुलसीदास कृत रामचरितमानस का उदाहरण देते हैं जिसमें फारसी और अरबी के शब्दों का समावेश स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा का विकास एक सतत सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है, जिसमें विविध भाषाओं के शब्द सहज रूप से आत्मसात होते रहते हैं।

गांधीजी ने यह भी स्वीकार किया कि उर्दू ने हिंदी को समृद्ध किया है। उर्दू शब्दों ने हिंदी की मधुरता और अभिव्यक्ति क्षमता को विस्तार दिया है। उन्होंने कहा कि उर्दू और हिंदी का यह सहजीवी संबंध राष्ट्र की भाषिक एकता को मजबूत करता है। हमारे दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त अनेक उर्दू शब्द हिंदी में इस प्रकार रच-बस गए हैं कि उनका पृथक्करण अब असंभव है।

गांधीजी का यह दृष्टिकोण उनके भाषिक समन्वयवाद और लोकतांत्रिक सोच को दर्शाता है। उन्होंने भाषा को विभाजन का नहीं, बल्कि मेल और संवाद का माध्यम माना। इसी कारण उन्होंने हिंदी-उर्दू के सम्मिलित रूप 'हिंदुस्तानी' को राष्ट्रभाषा बनाने का आग्रह किया।

गांधीजी की दृष्टि में हिंदी और उर्दू का समन्वय – यानी हिंदुस्तानी – इन सभी शर्तों को पूर्ण करता है। अंग्रेजी को उन्होंने कभी भी नकारा नहीं, लेकिन उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना उन्होंने राष्ट्र के आत्मसम्मान, आत्मनिर्भरता और आत्मबोध के विरुद्ध माना।

आज जब भारतीय भाषाओं के अस्तित्व और सम्मान को लेकर नई बहसें जन्म ले रही हैं, गांधीजी की राष्ट्रभाषा संबंधी अवधारणा एक सशक्त आधार प्रदान करती है। यह केवल भाषिक नीति नहीं, बल्कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और भारतीयता की पुनःस्थापना की दिशा में एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

लिपि और राष्ट्रभाषा : महात्मा गांधी का दृष्टिकोण

भारत की भाषिक विविधता में एकता स्थापित करने हेतु राष्ट्रभाषा के चयन का प्रश्न सदैव बहस का विषय रहा है। महात्मा गांधी ने इस दिशा में भाषा के साथ-साथ लिपि की भी केंद्रीय भूमिका मानी। उनके अनुसार, केवल भाषा का चयन पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसकी लिपि भी सरल, सर्वस्वीकार्य और व्यवहारोपयोगी होनी चाहिए।

उन्होंने यह महसूस किया कि भारतीय भाषाओं के विविध लिपियों के कारण भाषायी संवाद में अवरोध उत्पन्न होता है, और इस बाधा को समाप्त करने के लिए देवनागरी लिपि को सर्वमान्य रूप में अपनाना आवश्यक है।

गांधीजी ने देवनागरी लिपि को भारत के लिए उपयुक्त माना, किंतु वह इसकी जटिलताओं से भी अवगत थे। उन्होंने देवनागरी को सरल बनाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिए। उदाहरणस्वरूप, उन्होंने सुझाव दिया कि लिपि की 'माथा रेखा' अर्थात् शीर्ष रेखा को हटाकर उसे अधिक सुगम बनाया जा सकता है। उन्होंने कारक चिह्नों को अलग लिखने के बजाय शब्दों के साथ जोड़ने की सलाह दी, जिससे भाषा सीखने वाले को अधिक स्पष्टता और आसानी हो।

गांधीजी ने कहा— "मैं दो शब्द लिपि के बारे में कहूँगा। जब मैं दक्षिण अफ्रीका में था, तब भी मानता था कि संस्कृत से निकली हुई सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी होनी चाहिए और मुझे विश्वास है कि देवनागरी के द्वारा द्रविड़ भाषाएँ भी आसानी से सीखी जा सकती हैं"।[9]

उन्होंने द्रविड़ भाषाओं—तमिल, तेलुगु, कन्नड़, और मलयालम—को उनकी मौलिक लिपियों से सीखने का प्रयास किया, लेकिन प्रत्येक लिपि की जटिलता ने उन्हें बाधित किया। गांधीजी ने स्वीकार किया— "जब मैंने देखा कि मुझे चार-चार लिपियाँ सीखनी होंगी तो मैं मारे डर के घबरा उठा। यदि इन चारों भाषाओं की लिपि देवनागरी होती, तो मैं इन्हें थोड़े ही समय में सीख सकता था"।[10]

गांधीजी का यह मानना था कि यदि भारत की सभी प्रमुख भाषाओं की एक समान लिपि होती, तो देश में भाषायी समरसता और आपसी संप्रेषण और अधिक प्रभावी बन सकता था। उन्होंने यह भी कहा कि देवनागरी लिपि के सरलीकरण से पूरे भारत में भाषा-अधिगम आसान हो सकता है, विशेष रूप से उन लोगों के लिए जो विभिन्न भाषाएँ सीखने की रुचि रखते हैं।

यह विचार आज भी शिक्षा नीति, प्रशासनिक संचार और तकनीकी अनुवाद जैसे क्षेत्रों में अत्यंत प्रासंगिक है। यदि लिपियों की संख्या कम होती, तो भारतीय भाषाओं के मध्य ज्ञान और साहित्य का आदान-प्रदान सरल और सुलभ होता।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और मुग़ल काल

गांधीजी ने भारत के भाषिक इतिहास का भी गहन अध्ययन किया था। उन्होंने उल्लेख किया कि मुग़ल काल में भले ही शासन फारसी और अरबी लिपियों के माध्यम से हुआ, फिर भी वे जनसामान्य की भाषा नहीं बन सकीं। गांधी लिखते हैं— "मुसलमान बादशाह भारत में फारसी-अरबी को राष्ट्रभाषा नहीं बना सके। उन्होंने हिंदी के व्याकरण को मानकर उर्दू लिपि काम में ली और फारसी शब्दों का ज्यादा उपयोग किया, परन्तु आम लोगों के साथ अपना व्यवहार वे विदेशी भाषा द्वारा नहीं चला सके।"[11]

यह तथ्य गांधीजी की उस मूल मान्यता को समर्थन देता है कि राष्ट्रभाषा और उसकी लिपि जनता से जुड़ी होनी चाहिए, और विदेशी भाषाएं एवं लिपियाँ केवल शासकीय आदेशों तक सीमित रह जाती हैं।

मातृभाषा गुजराती, किंतु हिंदी के प्रति निष्ठा

गौरतलब है कि गांधीजी की मातृभाषा गुजराती थी। उन्होंने अधिकांश मौलिक लेखन गुजराती में किया, परंतु राष्ट्रभाषा के लिए उन्होंने हिंदी और देवनागरी लिपि का समर्थन किया। उन्होंने 20 अक्टूबर 1917 को भड़ौच (गुजरात) में आयोजित द्वितीय गुजरात शिक्षा सम्मेलन में हिंदी में भाषण देकर यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रहित में भाषाई पक्षपात नहीं होना चाहिए।

इस सम्मेलन में उन्होंने कहा— "मैकाले ने हमारे साहित्य का तिरस्कार किया, हमें अंधविश्वासी माना। उन्होंने हमारे धर्म को अज्ञान का स्रोत समझा और हमारे शैक्षिक ढांचे को इस तरह तैयार किया कि उससे केवल वकील, क्लर्क और डॉक्टर पैदा हों।"[12] उन्होंने उपहासपूर्वक यह कहा, "यह अंग्रेजों की शिक्षा-प्रणाली थी जिसमें गाड़ी के पीछे घोड़ा जोता गया था।"[13]

लिपि और भाषिक लोकतंत्र

गांधीजी की दृष्टि में लिपि केवल लेखन का साधन नहीं, बल्कि भाषिक लोकतंत्र का आधार है। यदि लिपि जटिल है या जनता से असंबद्ध है, तो भाषा कभी भी जनसंचार का सशक्त माध्यम नहीं बन सकती। इसलिए उन्होंने देवनागरी लिपि को पूरे भारत की भाषाओं की साझा लिपि बनाने का सुझाव दिया, ताकि शिक्षा, प्रशासन, तकनीकी विकास और रोजगार के क्षेत्र में सरलता सुनिश्चित हो सके। आज भी यह विचार अत्यंत मौलिक और दूरदर्शी है। केंद्र सरकार द्वारा अनेक भारतीय भाषाओं को देवनागरी लिपि में टाइपिंग, ई-गवर्नेंस और अनुवाद में प्रयोग किया जाना इस दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास है।

निष्कर्ष:

महात्मा गांधी ने राष्ट्रभाषा को केवल संप्रेषण का साधन नहीं, बल्कि राष्ट्र निर्माण का एक प्रमुख औजार माना। उनके भाषिक दृष्टिकोण में 'हिंदुस्तानी' भाषा – जिसमें हिंदी और उर्दू दोनों का समावेश था – को एक समावेशी और जनोन्मुख राष्ट्रभाषा के रूप में प्रस्तुत किया गया। उन्होंने देवनागरी लिपि को भारत के लिए उपयुक्त माना और उसके सरलीकरण की बात कही ताकि सभी भारतीय भाषाओं में आपसी संवाद और शिक्षा सुलभ हो सके। गांधीजी की भाषा नीति जनतांत्रिक, व्यवहारिक और सामाजिक समरसता को बढ़ावा देने वाली थी। उन्होंने अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा के रूप में अस्वीकार करते हुए हिंदी को भारत की आत्मा की भाषा बताया। उनके विचार आज भी भारतीय भाषाओं की गरिमा, शिक्षा नीति, और सांस्कृतिक स्वराज्य के संदर्भ में अत्यंत प्रेरणादायक और मार्गदर्शक हैं। भाषाई एकता और विविधता के संतुलन को साधने की दिशा में गांधीजी की राष्ट्रभाषा संबंधी अवधारणा एक स्थायी आदर्श प्रस्तुत करती है।

संदर्भ :-

[1] Dakshina Bharat Hindi Prachar Sabha, Madras. Retrieved from https://dbhpscentral.org/latindex.php

[2]Rashtrabhasha Prachar Samiti. retrieved from https://www.jamnalalbajajfoundation.org/wardha/rashtrabhasha-prachar-samiti

[3]Rashtrabhasha Prachar Samiti. retrieved from https://www.jamnalalbajajfoundation.org/wardha/rashtrabhasha-prachar-samiti

[4] गांधी, मो. क. (2007). मेरे सपनों का भारत. (दसवाँ संस्करण) (संपा. सिद्धराज ढड्ढा) वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन. पृ. 126-127

[5] गांधी, "राष्ट्रभाषा और संस्कृति", हरिजन, 1946 द्वारा गांधी, मो. क. (2007). मेरे सपनों का भारत. (दसवाँ संस्करण) (संपा. सिद्धराज ढड्ढा) वाराणसी : सर्व सेवा संघ प्रकाशन. पृ. 126-127

[6] गांधी, मो. क. (1936). संपूर्ण गांधी वाङ्.मय (खंड 63). नई दिल्ली: पब्लिकेशन्स डिवीजन, सूचना एवं प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार. पृ. 60

[7] गांधी, "हरिजन सेवक", 1947

[8] गांधी, मो. का. (1942). हिंदुस्तानी का सवाल. हरिजन सेवक।

[9] गांधी, मोहनदास करमचंद. (1936). राष्ट्रभाषा विषयक पत्र-व्यवहार, गांधी वाङ्मय, खंड 63. अहमदाबाद : नवजीवन ट्रस्ट

[10] गांधी, मोहनदास करमचंद. (1937). राष्ट्रभाषा विषयक पत्र-व्यवहार, गांधी वाङ्मय, खंड 64. अहमदाबाद : नवजीवन ट्रस्ट

[11] गांधी, मोहनदास करमचंद. (1940). भाषा और राष्ट्रनिर्माण पर विचार. गांधी वाङ्मय, खंड 45. अहमदाबाद : नवजीवन ट्रस्ट

[12] गांधी, मोहनदास करमचंद. (1917). गुजरात शिक्षा सम्मेलन में भाषण, भड़ौच। संकलित: गांधी वाङ्मय, खंड 13. अहमदाबाद : नवजीवन ट्रस्ट

[13] गांधी, मोहनदास करमचंद. (1917). गुजरात शिक्षा सम्मेलन में भाषण, भड़ौच। संकलित: गांधी वाङ्मय, खंड 13. अहमदाबाद : नवजीवन ट्रस्ट

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

सतत विकास के लिए भारतीय संस्कृति अनिवार्य

डॉ. निमिषा त्रिपाठी*
tripathinimisha48@gmail.com

विशेषताएं: समन्वयवादिता और आध्यात्मिकता।

भारतवर्ष अति प्राचीन देश है। अपनी भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक इकाई के रूप में उसकी गणना का समस्त मानवीय उपलब्धियों के अध्ययन में प्रमुख स्थान है। उसकी संस्कृति में राष्ट्रीय जीवन का उत्थान-पतन तो स्वभावतः है ही, उसके (नानाल सा विविध स्वरूप में आद्योपान्त एक समन्वयवादी चेतना व्याप्त है। धर्म और आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति-शरीर के नेत्र हैं जिनके द्वारा उसकी आत्मा का दर्शन सहज है।

प्राचीनता के विचार से भारतीय संस्कृति विश्व की आदि-सभ्यताओं में से एक है। सिन्धु-घाटी के क्षेत्र में जिस संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं वे कालक्रम में निल नदी के किनारे विकसित मिस्त्र संस्कृति एवं (तिम्रा-उफ्रात नदियों के कांटे में फूली फली) में सोपोटामी सभ्यता के समकल हैं। वैदिक साहित्य की प्राचीनता भारतीय संस्कृति की परम्परा का प्रमाण है जिसके अनेक तत्व आज भी जीवित हैं। इस सनातन अस्तित्व की दृष्टि से भारतीय संस्कृति अनोखी है। उसकी अद्भुत जीवनी-शक्ति की तुलना में संसार की कोई सभ्यता नहीं ठहरती। मिस्त्री, सुमेरी, यूनानी, रोमन किसी भी सभ्यता के इतिहास का युग ६००-७०० वर्षों से अधिक नहीं। भारतीय संस्कृति का अनुपम प्रसार काल की दृष्टि से ५-६ हजार वर्षों के बीच अटूट मिलता है। वह बीते इतिहास या पुरातत्त्व का निर्जीव अवशेष नहीं है, बल्कि आज भी जीवन-युक्त है।

प्राकृतिक सौन्दर्य और ऋद्ध-सम्बन्धी सुविधाओं ने यहां के मानव की सुरूचि के निर्माण और रचनात्मक प्रोत्साहन में पूरा योगदान किया है। प्रकृति के इन स्थूल वरदानों का भारतीय जीवन के निर्माण में पूरा महत्त्व है जो भारतीय संस्कृति की उच्च उपलब्धियों को मूलभूत प्रेरणा है। इस स्वतः प्राप्त भौतिक समृध्दि के अनुरूप अनेक ऐसे तथ्य हैं जो भारतीय जीवन के विशिष्ट गुण जान पड़ते हैं, जैसे आध्यात्मिकता या धर्मप्रधानता, वर्णव्यवस्था, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद, विश्वपरक दृष्टिकोण, सहिष्णुता, इत्यादि। जीवन की विभिन्न विधाओं और क्षेत्रों में सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ उनके पारस्परिक मूल्यों और समन्वयात्मक एकसूत्रता का प्रयत्न भारतीय संस्कृति का निचोड़ है। भौतिक पूर्णता को अध्यात्म की छाया में स्वीकार करने की रीति और मनुष्य को पतनोन्तरखी प्रवृत्तियों का दमन यहां सफल तथा श्रेष्ठ मार्ग के रूप में प्रतिपादित हुआ हैं। जीवन में संतुलन को भारतीय विचारकों ने अत्यधिक महत्व दिया है, जिसके लिए अनेक व्यवहार - धर्मों को स्थापना मिलती है जो इस रूप में विशिष्ट हैं। जैसे-विद्वान् बाहह्मण का आदर राजा-रंक सबका आदर्श है,

* **असिस्टेन्ट प्रोफेसर-सह-अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची**

पुरुषार्थ की चार उपलब्धियों के लिए आश्रम – व्यवस्था का सबके लिए समान रूप से विनियोग। जन्म से 'कर्म' का निर्णय प्रधान होने होने पर भी आर्थिक या भौतिक स्तर कभी भी भारतीय जीवन में इस आधार पर निर्धारित नहीं माना गया।

किसी भी राष्ट्र या जाति की कसौटी उसका आध्यात्मिक तथा बौद्धिक स्वरूप है। वैदिक युग से आत्मिक उत्कर्ष का सिद्धान्त भारतीय संस्कृति में ओतप्रोत है। वैदिक ऋषियों ने जीवन में उच्च नैतिक आदर्श से ऊपर उठ कर मन की शक्ति और आत्मा के महत्त्व की स्थापना की है। वे कर्मकाण्ड के समर्थक न हो कर आचार-धर्म और दर्शन के प्रवर्तक हैं जिनमें जीवन और सृष्टि के गूढ़ रहस्यों का विवेचन है। मोक्ष-साधना और वैचारिक सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की विशिष्ट धाराएं हैं। उपनिषद् और धर्मसूत्रों में आत्मिक ज्ञान और जीवन के क्रमिक विकास के सिद्धान्तों का प्रतिपादन परवर्ती भारतीय सभ्यता की मौलिक स्थापना है। भारत की आत्म-संस्कृति का उसके इतिहास में अनुपम स्थान है। महावीर बुद्ध कालीन वैराग्य भावना और आत्मिक उत्कर्ष-साधना के आन्दोलन का फल जैन और बौद्ध धर्मों के रूप में मिलता है। अशोक, विक्रमादित्य और हर्ष जैसे सम्राटों ने धर्म-संदेशों का प्रचार अपना कर्तव्य समझा। मध्यकाल में शंकराचार्य ने अध्यात्मपरक दार्शनिक पक्ष की पुनः स्थापना का महान कार्य किया। रामानन्द, कबीर, तुलसी, शंकरदेव आदि कवि-संतों ने आगे बढ़कर इसको जन-जन के लिए सुलभ किया। आधुनिक समय में भी भारतीय विचारकों का दृष्टिकोण अध्यात्म-भावना से प्रेरित दिखाई देता है। अन्य देशों के महापुरुषों की तुलना में इनकी कोटि संत, योगी और विश्व-प्रेम से ओतप्रोत महात्माओं की जान पड़ती है। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, अरविन्द, रमण महर्षि, गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, इसी सत्य के प्रतिनिधि हैं जो 'भारतीय संस्कृति' का प्रमुख लक्षण जान पड़ता है।

'धार्मिक एकता' और सहिष्णुता हमारी संस्कृति का दूसरा लक्षण है। राम, कृष्ण, शिव तथा बुद्ध, महावीर, इत्यादि की मान्यता के अलावा देवी-देवताओं की संख्या अनगिनत है। फिर भी, उनमें अलग-अलग विश्वास आपसी भेद का कारण न होकर एकता का मूल है, क्योंकि विभिन्न रूप स्वीकार करने के बावजूद एक-ईश्वर में भारतीय विश्वास सुदृढ़ है। सभी धर्मों की एकता का सिद्धान्त भारतीय दृष्टिकोण की ही देन है। विश्वपरक विश्वास उसी का दूसरा पक्ष है। समस्त विश्व में एक ही आत्मा का प्रतिबिम्ब स्वीकार करना भारतीय दर्शन का मूलमंत्र है। विरोधी विचारों और दृष्टियों में भी एक समन्वय मूलतः है ही - यह एक दूसरे को समझने की कल्याणकारी भावना है जिसमें अटूट विश्वास इस संस्कृति की कुंजी है। सार्वभौम दृष्टिकोण को प्रधानता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घुली-मिली देखी जा सकती है। सामाजिक समग्रता का यह अनिवार्य पक्ष है। भारतीय संस्कृति में इसे धर्म तथा नीतिशास्त्र से जोड़ दिया गया है जिससे व्यक्ति और समाज दोनों ही स्तरों पर उसकी एकता बनी हुई है।

उपनिषदों में विविध दार्शनिक मान्यताओं के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए 'ब्रह्म' को अखण्डता का प्रतिपादन है। गीता, उत्तराध्ययनसूत्र और धम्मपद में बौद्धिक सहिष्णुता का ही अपने-अपने ढंग से कृष्ण, जिन और बुद्ध द्वारा उपदेश है। तीर्थकर महावीर का 'स्याद्वाद' अनेक दृष्टियों से सत्य के ग्रहण और

विवेचन का मत प्रकट करता है। किसी समय, किसी के द्वारा सत्य के एक अंश की ही जानकारी होती है। संस्कृति के इस उदार समन्वय का उदाहरण ईश्वर के "सहस्रनाम" में विश्वास द्वारा सहज ही मिल सकता है (जैसे विष्णुसहस्रनाम या देवी) जिनका पाठ आज भी अनेक हिन्दू घरों में होता है।

धर्मान्धता के कारण धर्मो में कशमकश और एक दूसरे के विरोध की भावना भारत में अप्राप्य है। आर्य और द्रविड़ विश्वासों के आपसी धार्मिक सहिष्णुता के कारण विश्व में अन्य स्थानों में अनेक अत्याचार हुए। यूनान में सुकरात, फिलिस्तीन में ईसा मसीह को इसी पर बलि होना पड़ा। विभिन्न संस्कृतियों ने परस्पर धर्मभेद के वश अन्यत्र विनाश का इतिहास लिखा। पर भारतीय संस्कृति हिंसा और धर्मान्धता के वशीभूत नहीं हुई। सहिष्णुता हमारी संस्कृति की सबसे बड़ी थाती है।

भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता सर्वांगीण दृष्टिकोण है। उपनिषद् में इस सत्य की स्पष्ट स्थापना है- इस आत्मा में मन, प्राण और पंचभूत सभी हैं। मनुष्य जो कुछ भी करता है वह अपनी आत्मा के संस्कार के लिए करता है। अतएव भारतीय विचारधारा में मन, प्राण और शरीर तीनों के विकास पर समान बल दिया गया है। आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचानने का श्रेय भारतीय दार्शनिकों को है। यदि आध्यात्मिक उत्कर्ष पर बल दिया गया है तो उसके भौतिक रूप की उपेक्षा नहीं है। शारीरिक उत्कर्ष के बिना आत्मा का विकास असंभव है। मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए 'पुरुषार्थ' का सिद्धान्त दिया गया। यह मनुष्य के व्यक्तिगत लक्ष्य के साथ-साथ समस्त समाज या संस्कृति का आदर्श भी है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इनकी प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। जीवन में इनकी प्राप्ति के लिए आश्रम-व्यवस्था का विकास हुआ जो सामाजिक व्यवस्था के रूप में संसार में अनोखी है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में पहले तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति का अवसर है, अंतिम दो आश्रमों में मोक्ष साधन का। भारतीय के वैराग्य धर्मी (बौद्ध, जैन, चार्वाक) में भी निर्वाण या संसार से मुक्ति को आदर्श चरम लक्ष्य माना गया है। इसी कारण कभी-कभी भारतीय संस्कृति पर अति धार्मिकता या आध्यात्मिकता का आरोप लगाया जाता है। किन्तु यह ठीक नहीं। धर्म का प्राधान्य होने पर भी भौतिक उन्नति का भारतीय जीवन में यथोचित अवसर था जिसका प्रमाण मौर्य, सातवाहन, गुप्त, प्रतिहार जैसे विशाल और समृद्ध साम्राज्यों की कला, शिल्प, साहित्य, आयुर्वेद, आदि की उपलब्धियां हैं। एक ओर गूढ़ दर्शन, योग, सिद्धि, आदि का उत्कर्ष हुआ तो उसका आधार भौतिक समृद्धि और प्रगति से उत्पन्न लोगों का संतोष और आत्मिक उन्नयन था।

वर्णधर्म का दार्शनिक पक्ष कर्मवाद से प्रेरित है, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति का बहुचर्चित सिद्धान्त है। इस दृष्टिकोण की पराकाष्ठा निःस्पृह कर्तव्य पालन के रूप में 'गीता' में मिलती है जो नितान्त भारतीय विचार है। संसार में कर्म का गम्भीर प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति और संस्कृति के सामने रहता है। जीवन कर्ममय है, संसार कर्मभूमि है। गीताकार ने मनुष्य की इस समस्या के समाधान और जीवन के ध्येय और शान्ति को प्राप्ति का मार्ग प्रतिपादित किया हैं। 'कर्मयोग' उसका आदर्श स्वरूप है। निःसंदेह यह दृष्टि भारतीय संस्कृति की समस्त उपलब्धियों में व्याप्त है। कर्म की श्रेष्ठता का विधान महर्षि व्यास ने 'पाणिवाद' के नाम से किया है - जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं कर सकते। कर्म में लग कर मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है ('यथाकर्म

तथालाभ' :- शान्तिपर्व)। इस विचार के बीच वैदिक युग में ही स्थापित हो चुके थे। अथर्ववेद के ऋषि के अनुसार - अयं में हस्तो भगवान्, मेरा यह हाथ ही भगवान् है। भले-बुरे कर्म का फल वैसा ही होता है। यह दृष्टिकोण उपनिषदों के समय तक स्थापित प्रतीत होता है - पुण्यो वे पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनैवेति (बृहदारण्यक उप०)। खुली दृष्टि और ग्रहण शीलता भारतीय संस्कृति का अन्य मन्त्र है। बाह्य संस्कृतियां और जातियों से आदान-प्रदान, प्रभावों को आत्मसात् करना। नए लक्ष्यों की प्राप्ति, आदि उसी विचारधारा के अंग हैं। सामाजिक व्यवस्था की उदारता और ग्रहण क्षमता उसके लक्षण हैं। समय-समय पर आई अनेक जातियां यहां आ कर यहीं घुल-मिल गईं। आंशिक राजनीतिक विजय के बावजूद भी इसी कारण भारत की सांस्कृतिक विजय कोई भी जाति या शक्ति न कर सकी। भारतीय संस्कृति का शरीर इन तत्त्वों को पचा कर पुष्ट ही हुआ।

भारत-भूमि अनेक आविष्कार, खोज, और भौतिक उपलब्धियों की जननी रही है। उदाहरण के लिए अंकगणित, शून्य, कथा-कहानी, शतरंज का खेल, कपास के वस्त्र, अद्वैत दर्शन, बौद्ध धर्म, आदि भारतीय देन हैं जिनसे विश्व समय-समय लाभान्वित हुआ। चिकित्सा और कला के क्षेत्र में अनेक प्रभाव भारत से बाहर गए। विद्या के क्षेत्र में इस प्रकार सिरमौर होने पर भी मुक्त रूप से विदेशी उपलब्धियों को स्वीकार किया गया, जैसे यूनानी ज्योतिष। हिंदेशिया के द्वीपों में संस्कृति का प्रकाश भारतीय नाविकों ने पहुंचाया। चीन से भारत का सांस्कृतिक लेन-देन बड़ा पुराना था जहां भारतीय कला और साहित्य ने विशिष्ट युग की नींव डाली। एशिया के विभिन्न देशों को संस्कृति पर भारत की अमिट छाप व्यापक रूप से पड़ी है।

भारतीय संस्कृति की सार्थक उपलब्धि उसकी सनातनता है। समय की कसौटी पर उसका इतिहास खरा उतरता है। संसार को इस प्राचीन सभ्यता का वैदिक साहित्य साक्षी है। सिंधु घाटी से मिले भौतिक अवशेष पांच हजार पूर्ष पूर्व की भारतीय उपलब्धियां और जीवन-विधि का प्रमाण देते हैं। उस संस्कृति के अनेक तथ्य और बातें इतना समय तय कर आज भी जीवित हैं। अन्य संस्कृतियों की भांति भारतीय संस्कृति का जीवन-रस कई सहस्त्र वर्षों के उत्थान-पतन के बाद भी नहीं समाप्त हुआ। विश्व की और सभ्यताएं अधिक से अधिक ६०० (७००) वर्ष तक जीवित रहीं। किन्तु हमारी संस्कृति के लिए 'मृत्युंजय' शब्द का प्रयोग किया गया है। निः संदेह इस अमरता का रहस्य समन्वयवाद, सहिष्णुता और निवृतिमार्गी कर्मवाद के सिद्धान्तों में छिपा है जो भारतीय संस्कृति में व्याप्त उसके निजी गुण हैं। मानवता को आज के युग में वैज्ञानिक एवं नैतिक विनाश से बचना है तो इन श्रेयस्कर संदेशों को विश्वस्तर पर अपनाना होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति भारतीय संस्कृति के मार्गदर्शन से ही संभव है।

संदर्भ :

1. द्विवेदी, उजे वल्लभ (2014). *भारतीय संस्कृति के मूल तत्व.* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
2. अग्रवाल, पृथ्वीकुमार (2010). *भारतीय संस्कृति की रूपरेखा.* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
3. शर्मा 'ऋषि', उमाशंकर.*संस्कृत साहित्य का इतिहास.*
4. श्रीवास्तव, आर्शीवादी लाल. *प्राचीन भारतीय इतिहास*

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

'शरणदाता' : त्रासदी की विभीषिका के मध्य संवेदना के मूल्य

डॉ. नियति कल्प*

niyati.kalp@gmail.com

आधुनिक हिन्दी-साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का अप्रतिम योगदान है। साहित्य की सभी विधाओं में उनका सशक्त लेखन अविस्मरणीय है। प्रयोगवाद और नई कविता के सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में स्थापित अज्ञेय 'तार सप्तक' के संपादक भी हैं और उसके एक कवि के रूप में भी स्थापित हैं। कहानी के क्षेत्र में भी अज्ञेय का प्रदेय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अज्ञेय की पहली कहानी 'जिज्ञासा' (1929 ई०) तथा उनकी अंतिम कहानी 'हजामत का साबुन' (1959 ई०) है। अज्ञेय ने घटना से अधिक परिवेश और पात्रों की मनोभूमिका में मनोविश्लेषण का प्रयोग किया है। वे शिल्प के प्रति भी उतने ही सजग और समर्थ रचनाकार हैं। "नयी कहानी की रचना-दृष्टि की बीज निर्मितियाँ अज्ञेय की कथादृष्टि के केन्द्र से उपजती रही हैं। अज्ञेय में कहानी की स्थूल-घटनात्मकता टूट जाती है और कटु आन्तरिक मनोभावों, तनावों की मनोभूमिकाओं, द्वन्द्वों व संघर्षों के आधार पर विकसित होने की शक्ति पा जाती है।"[1]

अज्ञेय द्वारा रचित 'शरणदाता' कहानी भारत-विभाजन की त्रासदी को आधार बनाकर लिखी गई है, जिसमें उन्होंने उस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हादसे के विभिन्न पक्षों और उससे उत्पन्न होनेवाली आंतरिक और बाह्य समस्याओं तथा इन सबमें अंतर्निहित मानवीय करुणा को मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति प्रदान की है। अज्ञेय ने जीवन के बहुआयामी पक्षों, विभिन्न मन:स्थितियों और जीवंत परिवेश के विशेष अनुभवों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर कहानी के रूप मे प्रस्तुत किया है। 'विपथगा', 'कोठरी की बात', जयदोल, 'अमर वल्लरी', 'शरणार्थी' आदि उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। 1947 ई० में भारत- विभाजन पर लिखी गई 'शरणदाता' कहानी हिंदी की महत्त्वपूर्ण और प्रतिनिधि कहानियों में से एक है जो कहानी-संग्रह 'शरणार्थी' (1948 ई०) में संकलित है।

अज्ञेय मूलतः व्यक्ति-चेतना के कथाकार हैं, किंतु देश-विभाजन पर लिखी गई कहानियाँ उनकी इस आत्मपरकता से मुक्त हैं। उनकी दृष्टि में विभाजन किसी विशेष भू-भाग का नहीं होता बल्कि मनुष्य और मनुष्यता का होता है। विभाजन के समय की हिंसा क्रूरता और अविश्वास से भरे परिवेश में दबी और कुचली मानवता को उभारने का प्रयास प्रस्तुत कहानी में कहानीकार ने किया है। साथ ही विभाजन के कारण बदलती परिस्थितियों और उसके परिणामस्वरूप परिवर्तित होती मनुष्य की मन:स्थिति का उद्घाटन भी किया गया है। उक्त कहानी में मानवीय संबंधों और मूल्यों के विघटन में बाह्य परिस्थितियों के दबाव को

* **सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, मारवाड़ी महाविद्यालय, राँची**

सहज ही अनुभव किया जा सकता है। निश्चय ही परिवेश का दबाव मनुष्य की नैतिकता को, उसके जीवन-मूल्यों को प्रभावित करता है। वह उसके विश्वासों एवं मान्यताओं को खंडित कर डालता है। समय और परिस्थिति के इसी दबाव को अज्ञेय ने प्रस्तुत कहानी में व्यापक अर्थ प्रदान किया है। रफ़ीकुद्दीन अपने अभिन्न मित्र और पड़ोसी देविन्दरलाल को दंगे के दिनों में भी भारत जाने नहीं देते बल्कि उन्हें बलपूर्वक लाहौर में ही रोकते हुए कहते हैं- "नहीं साहब हमारी नाक कट जाएगी। कोई बात है भला कि आप घर-बार छोड़कर अपने ही शहर में पनाहगर्जी हो जाएँ? हम तो आपको जाने न देंगे- बल्कि ज़बरदस्ती रोक लेंगे। मैं तो इसे मेजोरिटी फ़र्ज मानता हूँ कि वह माइनॉरिटी की हिफ़ाज़त करे और उन्हें घर छोड़-छोड़कर भागने न दे। हम पड़ोसी की हिफ़ाज़त न कर सके तो मुल्क की हिफ़ाज़त क्या खाक करेंगे!"[2]

रफ़ीकुद्दीन का आश्वासन पाकर देविन्दरलाल सुरक्षा की दृष्टि से उनके घर आ जाते हैं। उसी शाम को दंगाइयों द्वारा देविन्दरलाल का घर लूटकर उसे आग के हवाले कर दिया जाता है और रफ़ीकुद्दीन आँखों में पराजय लिए चुपचाप देखते रह जाते हैं। केवल एक बार उनके मुँह से निकलता है- " यह दिन भी था देखने को- और आजादी के नाम पर!"[3]

चारों ओर का अमानवीय वातावरण देविन्दरलाल को उद्वेलित करने लगता है। वे घर से बाहर तो निकल सकते नहीं, रफ़ीकुद्दीन ही बाहर आते-जाते हैं और शहर की खबर घर में आकर मित्र देविन्दरलाल को सुनाया करते हैं। धीरे-धीरे देविन्दरलाल लक्ष्य करते हैं कि मित्र रफ़ीकुद्दीन की बातों का अस्पष्ट स्वर कुछ स्पष्ट होता जा रहा है- एक लज्जित सी रुखाई का स्वर। हिन्दुस्तान- पाकिस्तान की अनुमानित सीमा के पास एक गाँव में कई सौ मुसलमानों ने सिक्खों के गाँव में शरण पायी हुई थी। अंत में जब आसपास के गाँव और अमृतसर शहर के लोगों का दबाव असहनीय हो गया तब गाँव के लोग अपने मेहमानों को हिफाज़त के साथ अमृतसर स्टेशन पहुँचा आते हैं ताकि वे मेहमान सुरक्षित मुसलमान इलाके में जा सकें। यह घटना सुनाकर रफ़ीकुद्दीन देविन्दरलाल से कहते हैं- "आखिर तो लाचारी होती है, अकेले इंसान को झुकना ही पड़ता है। यहाँ तो पूरा गाँव था, फिर भी उन्हें हारना पड़ा। लेकिन आखिर तक उन्होंने निबाहा, इसकी दाद देनी चाहिए। उन्हें पहुँचा आये।"[4]

देविन्दरलाल को अपने घर में पनाह देने के कारण रफ़ीकुद्दीन को लोगों से ताने मिलते हैं, आये दिन उन्हें जलील होना पड़ता है और जान का खतरा सपरिवार तो उन्हें है ही। ऐसी परिस्थिति में देविन्दरलाल मित्र की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए वहाँ से जाने की बात कहते हैं। मित्र रफ़ीकुद्दीन उन्हें अपने घर से तो जाने देते हैं परंतु देविन्दरलाल की सुरक्षा की दृष्टि से उन्हें अपने पड़ोस के मित्र शेख अताउल्लाह के घर के गैराज में रहने की व्यवस्था करा देते हैं। गैराज में सामान के नाम पर एक खाट और आले में रखा लोटा मात्र है। देविन्दरलाल का ट्रंक और बिस्तर कोने में रखकर बाहर से ताला लगा दिया जाता है। स्वयं को वहाँ बंदी सा अनुभव कर देविन्दरलाल हतबुद्धि से रह जाते हैं। उनके मन में विचार आता है- "यह है आज़ादी! पहले विदेशी सरकार लोगों को कैद करती थी, वे आजादी के लिए लड़ना

चाहते थे; अब अपने ही भाई अपनों को तनहाई कैद दे रहे हैं क्योंकि वे आजादी के लिए ही लड़ाई रोकना चाहते हैं।"[5] इस कैद में देविन्दरलाल अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए आँगन में आने वाले एक बिलार से दोस्ती कर लेते हैं। उनके लिए दिनभर में केवल एक बार खाना आता है। खाना दो वक्त के लिए पर्याप्त होता है परंतु वे डटकर एक बार ही खा लेते हैं और बचा भोजन बिलार को दे देते हैं। समय बिताने के लिए वे कभी कंकड़ों से खेलते हैं, कभी आँगन की दीवार पर बैठनेवाली गौरैया को देखते हैं, कभी दूर से कबूतर की गुटरगूँ सुनते हैं तो कभी सामने के कोने से शेख जी के घर के लोगों की बातचीत भी सुनते हैं। वे घर के सभी लोगों की आवाज पहचाने लगते हैं। शेख साहब की बेटी जैबुन्निसा, जिसे घर में सभी जैबू कहकर पुकारते हैं, उसकी आवाज से देविन्दरलाल को लगाव-सा हो जाता है। लड़की की आवाज से आकर्षण का मुख्य कारण उसकी बातचीत है जिससे उसके विनीत और सरल होने का पता चलता है। वहीं एक दिन खाने में फुल्कों की तह के बीच कागज की पुड़िया उनके हाथ लगती है जिसमें सिर्फ एक पंक्ति लिखी रहती है कि खाना कुत्ते को खिलाकर खाइएगा। देविन्दरलाल सन्न रह जाते हैं और फिर खाने की ओर देखकर सोचते हैं- " यह उनका खाना है- देविन्दरलाल का। मित्र के नहीं, तो मित्र के मित्र के यहाँ से आया है। और उनके मेजबान के, उनके आश्रयदाता के।"[6]

कुत्ता तो वहाँ था नहीं, अत: देविन्दरलाल बिलार को वह खाना खिला देते हैं। आश्रयदाता के यहाँ से आये इस खाने से बिलार की मृत्यु हो जाती है। यह देखकर देविन्दरलाल का मन-मस्तिष्क घूमने लगता है- "आज़ादी भाईचारा। देश-राष्ट्र ... एक ने कहा कि हम ज़ोर करके रखेंगे और रक्षा करेंगे, पर घर से निकाल दिया। दूसरे ने आश्रय दिया और विष दिया। और साथ में चेतावनी कि विष दिया जा रहा है।[7] देविन्दरलाल का मन ग्लानि से उमड़ उठता है। उन्होंने जाना कि दुनिया में खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है। भलाई की साहसहीनता ही बड़ी बुराई है। घने बादल से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज हो जाने से होती है।

वे ट्रंक में रखे जरूरी कागजात लेकर आँगन की दीवार फाँद जाते हैं और बाद में सुरक्षित दिल्ली पहुँचने में सफल हो जाते हैं। डेढ़ महीने बाद अपने घर का पता लेने के लिए देविन्दरलाल अपना पता देकर दिल्ली- रेडियो से अपील करवा रहे होते हैं, तब एक दिन उन्हें लाहौर की मुहरवाली एक छोटी सी चिट्ठी मिलती है जो अताउल्लाह की पुत्री जैबू द्वारा लिखी गई है। इस चिट्ठी में लिखा है- " आप बचकर चले गये, इसके लिए खुदा का लाख-लाख शुक्र है.... अब्बा ने जो किया या करना चाहा, उसके लिए मैं माफी माँगती हूँ और यह भी याद शायद दिलाती हूँ कि उसकी काट मैंने ही कर दी थी। अहसान नहीं जताती- मेरा कोई अहसान आप पर नहीं है- सिर्फ यह इल्तजा करती हूँ कि आपके मुल्क में अक़लियत का कोई मज़लूम हो तो याद कर लीजिएगा। इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है, इसलिए कि आप इंसान हैं। खुदा हाफ़िज।"[8]

देविन्दरलाल की स्मृति में शेखर अताउल्लाह की भारी आवाज गूँज उठती है- जैबू!जैबू! और फिर बिलार कि वह दर्द भरी कराह जो केवल एक लंबी साँस बनकर चुप हो गई थी। वे चिट्ठी की छोटी सी गोली बनाकर चुटकी से उसे उड़ा देते हैं। कहानी इसी बिंदु पर समाप्त हो जाती है। कहानी में जैबू की देविन्दरलाल के प्रति यह संवेदना पाठकों के हृदय को छू लेती है। परंतु "अपने पूरे परिवार की इच्छा और योजना के विरोध में जाकर देविन्दरलाल के प्रति जैबू की सदाशयता काफी कुछ आरोपित सी लगती है।"[9]

इस कहानी में अज्ञेय ने परिवेश के दबाव को व्यापक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है। देविन्दरलाल और रफ़ीकुद्दीन अभिन्न मित्र हैं, सबसे पहले मनुष्य हैं। परिवेश का दबाव उन्हें हिन्दू और मुसलमान, आश्रित और आश्रयदाता बनाता है। किंतु दोनों की मानवीयता बनी रहती है, आपसी विश्वास बना रहता है। धीरे-धीरे रफ़ीकुद्दीन का विश्वास परिवेश के दबाव में टूटने लगता है। वे आश्रयदाता हैं, इसलिए दबाव उन पर अधिक है, किंतु उनका आत्मविश्वास भी इस दबाव में किसी समर्थ सहायक की तलाश करता है। इसी कारण वे देविन्दरलाल को अपने घर पर ही बलपूर्वक रोक लेते हैं। परंतु जब आश्रयदाता को देविन्दरलाल के कारण जलील होना पड़ता है तो वे किसी भी खतरे की परवाह किये बिना वहाँ से जाने को तत्पर हो जाते हैं। यहाँ देविन्दरलाल के रूप में मानवीयता के दर्शन होते हैं, जो अपने आश्रयदाता, अपने मित्र पर उनके कारण किसी भी संकट को आने से पहले स्वयं वहाँ से दूर जाने की सोच लेते हैं जबकि उनके प्राण स्वयं संकट में है।

साथ ही जैबू के चरित्र के द्वारा कहानीकार ने उन आदर्शों की स्थापना का प्रयास किया है, जिन्हें वे मानव- मूल्यों और मानवीय विवेक के नाम पर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। अपने पूरे परिवार की इच्छा और योजनाओं के विरोध में जाकर जैबू देविन्दरलाल को उनके खाने में मिले विष के प्रति सचेत करती है और इस प्रकार कुटिल वातावरण में भी वह शरणागत देविन्दरलाल की रक्षा का धर्म निभाती है। मुख्यत: "इस कहानी के दो केंद्र हैं- रफी और शेख के रूप में शरणदाता का बदला हुआ मनोभाव और दूसरा जैबुन्निसा का उदात्त मानुष- भाव। यह एक आदर्श-प्रधान कहानी है लेकिन आदर्श खोखला नहीं है-ठोस है।"[10] वैसे जैबू के पिता शेख अताउल्लाह रफ़ीकुद्दीन की तरह विवश नहीं हैं। वे आसानी से देविन्दरलाल की रक्षा करने में समर्थ और सक्षम हैं। परंतु तत्कालीन विभाजन की त्रासदी के मध्य मानवीय संवेदना और नैतिक मूल्यों का अवमूल्यन उन्हें देविन्दरलाल को भोजन में विष देने पर मजबूर करता है।

'शरणार्थी' कहानी संग्रह में देश के विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न शरणार्थियों के जीवन के कटु अनुभव तथा उनकी समस्याओं का चित्रण है। प्रेमचंद के बाद जिन कहानीकारों ने अपनी प्रतिभा से हिन्दी कहानी को एक नई दिशा प्रदान की उनमें अज्ञेय अन्यतम हैं। अज्ञेय के लिए कहानी में घटना से अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति-वैशिष्ट्य रहा है। बिम्बों, प्रतीकों और नाटकीय स्थितियों के चित्रण के द्वारा उनकी कहानियों में विविध अर्थ उपस्थित होते हैं। "अज्ञेय ने सामान्य मध्यवर्गीय अभिजात सामाजिक जीवन,

राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का जीवन, शरणार्थियों का जीवन, पर्यटक जीवन तथा स्त्री-पुरुष के नैतिक संबंधों के विश्लेषण को अपनी कहानियों का उपजीव्य बनाया है।...जीवन के प्रति गूढ़ बौद्धिक-मनोवैज्ञानिक, कवि-दृष्टि के साथ बहुविध संदर्भों के माध्यम से अनेक सूक्ष्म आभ्यन्तर चारित्रिक विशेषताओं का विश्लेषण करने में अज्ञेय अग्रणी हैं।"[11]

निष्कर्ष :

वस्तुतः विभाजन पर आधारित यह कहानी विभाजन के कारण उत्पन्न करुण स्थितियों को मानवीय संवेदना के सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत करती है। जैबू के चरित्र के माध्यम से उक्त कहानी में विभाजन के अमानवीय परिवेश में उदात्त मानवीय मूल्यों के प्रति एक आशावादी स्वर उभरता दिखाई पड़ता है। निराशा और घृणा के अमानवीय माहौल में जैबू जीवित मानवीय चेतना की प्रतीक है जो विपरीत परिस्थितियों और षडयंत्रकारी माहौल में भी अपने शरण में आये हुए देविन्दरलाल की रक्षा कर शरणदाता के धर्म का बखूबी निर्वहन करती है।

संदर्भ :-

1. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 11.
2. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 558.
3. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 559.
4. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 561.
5. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 563.
6. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 565.
7. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 566.
8. पालीवाल, कृष्णदत्त (सं.). (2011). *अज्ञेय रचनावली* (खंड 3). नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ. पृ. 567.
9. मधुरेश. (1996). *हिन्दी कहानी का विकास*. प्रयागराज: लोकभारती प्रकाशन. पृ. 47.
10. पालीवाल, कृष्णदत्त. (2012). *अज्ञेय*. नई दिल्ली: प्रकाशन विभाग. पृ. 181.
11. तिवारी, रामचन्द्र. (2004). *हिन्दी का गद्य-साहित्य*. वाराणसी: विश्वविद्यालय प्रकाशन. पृ. 780.

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

रामानुजाचार्य के मोक्ष की अवधारणा

डॉ. इन्द्रजीत प्रसाद सिंह*

indrajitbnj@gmail.com

कठोपनिषद् में कहा गया है कि जगत में विभेद देखनेवाला मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अमरत्व या मोक्ष के लिए अभेद की दृष्टि आवश्यक है। उपनिषद् में मोक्ष से सम्बन्धित दो प्रकार के विचार मिलते हैं-- तादात्म्य तथा सामीप्य। तादात्म्य अर्थात् आत्मा का ब्रह्म से तद्रूप हो जाना तथा सामीप्य अर्थात् परमात्मा से समीपता।

शंकराचार्य मोक्ष को ब्रह्म का तादात्म्य मानते हैं। ये अद्वैतवादी हैं। जिस प्रकार नदियाँ सागर से मिलकर अपनी सत्ता खो देती हैं उसी प्रकार जीव भी नाम-रूप से विहीन हो ब्रह्म से तद्रूप हो जाता है। छन्दोज्ञ उपनिषद में कहा गया है कि जिस प्रकार मृत्तिका के एक टुकड़े के ज्ञान से सभी मृत्तिका से निर्मित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि सभी वस्तु मृत्तिका के विकार मात्र हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के किसी रूप के ज्ञान से ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। ब्रह्म ही परमतत्त्व है।[1] आत्मा और ब्रह्म में पूर्णतः अभेद है, तादात्म्य है। जब जीवात्मा को ब्रह्म से तादात्म्य का अनुभव हो जाता है तो वह अद्वैत रूप हो जाता है। जीवात्मा और ब्रह्म में व्यावहारिक दृष्टि से भेद है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से अभेद है।

सामीप्य-- उपनिषद् में कई स्थानों पर परमात्मा का सामीप्य भी मोक्ष माना गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि अमरत्व देवलोक की प्राप्ति है जिसमें भक्त भगवान् साथ सुख भोग करता है।[2] एक स्थल पर कहा गया है कि अमरत्व केवल सामीप्य ही नहीं, वरन् परमात्मा के साथ 'परम-साम्य' प्राप्त कर परमानन्द का उपयोग करता है। रामानुज इसी मोक्ष को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'तत्त्वमसि' आदि उपनिषद् के महावाक्य का अर्थ पूर्णतः अभेद या तादात्म्य नहीं है। यह भेद सहित अभेद है। इस प्रकार भगवान के समीप रहना ही भक्त का मोक्ष है।

भारतीय दर्शन में मोक्ष का अभिप्राय है--जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाना। इस अवस्था में शरीर, इन्द्रिय, मन, सभी के बन्धनों से आत्मा मुक्त हो जाता है और जब आत्मा बन्धन से छूट जाता है तो फिर से जन्म मरण के व्यूह में नहीं फँसता। मोक्ष की ऐसी अवधारणा प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं, परन्तु बंधन और मुक्ति के स्वरूप को लेकर मतभेद है। अन्य आस्तिक दर्शनों की तरह ही रामानुज भी मानते हैं कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध ही बन्धन है। रामानुज इस बंधन का कारण कर्म को मानते हैं। कर्म के कारण ही आत्मा का शरीर से जुड़ाव होता है। इस तरह के कर्म अज्ञात के कारण होते हैं जो आत्मा का शरीर से संयोग कराते हैं। वास्तविकता यह है कि आत्मा चैतन्य रूप है। आत्मा का स्वाभाविक धर्म चेतना ही है। चेतना

* **असिस्टेंट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, बैजनाथ जालान महाविद्यालय, सिसई, गुमला, राँची विश्वविद्यालय, राँची**

अणुरूप है जिसके कारण जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध हो जाता है तो शरीर, इन्द्रिय से भी चेतना का सम्बन्ध हो जाता है। जिस प्रकार एक दीपक पूरे कमरे को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही चेतना पूरे शरीर में फैलकर पूरे शरीर को चेतन बना देती है। ऐसा अविद्या के कारण होता है। अज्ञात के कारण ही हम आत्मा के शुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूलकर अनात्म, अहंकार, शरीर, इन्द्रिय आदि से इसका सम्बन्ध मान लेते हैं। वास्तव में शरीर अहंकार आदि अनात्म हैं। परन्तु अज्ञात के कारण ही इनमें आत्मा के सम्बन्ध का भाव उत्पन्न होता है। शरीरागोचरा च अहंबुद्धिरविधैव। आत्मानि देहे अहंभावकारो हेतुत्वात् अहंकार सूक्ष्मतयाः।[3]

वस्तुतः यही अज्ञान का कारण है। अज्ञान के कारण ही अनात्म में आत्मभाव उत्पन्न हो जाता है। शरीर से आत्मा का सम्बन्ध हो जाने के कारण शरीर द्वारा किए गए कार्य को भी जीवात्मा अपना समझ लेता है तथा शरीर के द्वारा किए गये कर्म का कर्ता और भोक्ता बन जाता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है और हम बार-बार मरते हैं तथा जन्म लेते रहते हैं। इस जन्म मृत्यु के अनवरत चक्र को रोकना ही मोक्ष है।

रामानुजाचार्य के दर्शन में मोक्ष के भावात्मक तथा अभावात्मक दोनों रूप में पाते हैं। अभावात्मक रूप में जन्म-मरण का अभाव ही मोक्ष है। अज्ञान के कारण किए गए कर्म से आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है। कर्मफल के नष्ट हो जाने पर आत्मा का शरीर के द्वारा किए गए कर्मों का कर्ता और भोक्ता बन जाना भी समाप्त हो जाता है। जब कर्तापन, भोक्तापन समाप्त हो जाता है तो जन्म-मरण के बन्धन का नितान्त अभाव हो जाता है, यही मोक्ष है। "अथ कर्मणा सम्बन्धस्य परं ज्योतिरूप संपद्यं बन्धनिधत्तिरूपा मुक्तिः।"[4]

मुक्त आत्मा फिर शरीर से नहीं जुड़ता है, जिससे जन्म- मरण का अभाव हो जाता है। इस प्रकार मुक्ति प्राप्त हो जाने के बाद अज्ञान और जन्म मरण का अभाव हो जाना मोक्ष का अभावात्मक स्वरूप है। रामानुजाचार्य मोक्ष के भावात्मक रूप को भी स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार मुक्त जीव शुद्ध तत्त्व से बने होते हैं। यह आनन्दमय शरीर है। इस शरीर से मुक्त जीव गोलोक या विष्णुलोक में निवास करते हैं। वहाँ उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार होता है। रामानुजाचार्य के अनुसार मुक्ति चार प्रकार की होती होती है--

(क) सान्निध्य-- इसमें जीवात्मा परमात्मा के नजदीक रहता है।

(ख) सालोक्य--इसमें जीवात्मा परमात्मा के लोक में निवास करता है, जैसे कि विष्णुलोक आदि में।

(ग) सायुज्य-- इसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध हो जाता है।

(घ) इस अवस्था में जीवात्मा भी परमात्मा का प्रकार हो जाता है।

इन चारों प्रकार की मुक्ति मोक्ष के भावात्मक रूप हैं। इनके अनुसार मुक्ति जन्म - मरण का अंत ही नहीं,बल्कि ईश्वर साक्षात्कार भी है। रामानुजाचार्य के अनुसार जीवन मुक्ति संभव नहीं है, क्योंकि जब तक शरीर रहता है तबतक कर्म होते रहते हैं। कर्म के पूर्ण विनाश के बिना शरीर का विनाश नहीं हो सकता। अतः शरीर के रहते मुक्ति संभव नहीं है।

अब प्रश्न है कि मुक्ति किस प्रकार से मिल सकती है?रामानुजाचार्य भक्त दार्शनिक हैं। इनके अनुसार परमात्मा की प्राप्ति ही सबसे बड़ी मुक्ति है। परमात्मा की प्राप्ति का साधन भक्ति है। शंकराचार्य यह मानते हैं कि

परमात्मा की प्राप्ति ज्ञान से ही संभव है। रामानुजाचार्य भी ज्ञान को स्वीकार करते हैं, परन्तु भक्ति सहित ज्ञान को ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन मानते हैं। यदि सिर्फ ज्ञान से मुक्ति मिल जाती तो वेदान्त पढ़कर लोग मुक्त हो जाते। शंकराचार्य के अनुसार शुद्ध ज्ञान ब्रह्म और जीवात्मा का अभेद ज्ञान है। परन्तु रामानुजाचार्य यह मानते हैं कि जीवात्मा और ब्रह्म में अभेद नहीं हो सकता। अल्पज्ञ और सर्वज्ञ में पूरी तरह से ऐक्य नहीं हो सकता। उपनिषदों में ज्ञान को मोक्ष का साधन माना गया है। परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार इसका तात्पर्य उपासना या भक्ति सहित ज्ञान है। "अतोः ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं ज्ञानं वेदनं उपासनं स्यात् उपासनापर्यात्वात् भक्ति शब्दस्य।"[5]

रामानुजाचार्य का 'भक्ति सहित ज्ञान' न तो केवल ज्ञान है और न ही केवल भक्ति। यह ज्ञान और भक्ति का सम्मिलित रूप है। रामानुजाचार्य भक्ति को ज्ञान से अलग नहीं मानते हैं। भक्ति भगवान से प्रेम है। सच्चा प्रेम तभी हो सकता है जब किसी अन्य विषय

से प्रेम न हो । यह परमात्मा के प्रति स्वार्थ से रहित प्रेम है। यही प्रेम भक्ति है। भक्ति की प्राप्ति के लिए निर्मल चित्त आवश्यक है। चित्त विशुद्ध तभी हो सकता है जब सांसारिक विषयों से मोह न हो और सिर्फ परमात्मा में ही आस्था हो। यह निःस्वार्थ प्रेम या विशुद्ध भक्ति ज्ञान से अलग नहीं है। यह तो ज्ञान की पराकाष्ठा है। चित्त में विशुद्ध ज्ञान होने पर ही संसार से विकर्षण और परमात्मा से आकर्षण संभव है। अतः रामानुजाचार्य भक्ति को ज्ञान का ही रूप मानते हैं।

उपनिषदों में ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की अवधारणा है। परन्तु रामानुजाचार्य का मानना है कि ज्ञान से मोक्ष का तात्पर्य ध्यान, उपासना या भक्ति है। रामानुजाचार्य के अनुसार परमात्मा के स्वरूप का निरन्तर ध्यान स्मरण है। स्मरण के लिए उपासना परमावश्यक है। अतः ध्यान और उपासना भक्ति के दो अंग हैं।

रामानुजाचार्य उपासना, ध्यान और भक्ति में अंतर नहीं करते हैं। तीनों का तात्पर्य सिर्फ ईश्वर प्रेम है। भक्ति के दो प्रकार बतलाए गये हैं--साधन भक्ति और परमा भक्ति।

साधन भक्ति-- यह भक्ति की पहली अवस्था है। इसमें भक्त जगत से विमुख होकर ईश्वर की तरफ उन्मुख होते हैं तथा पूरी तन्मयता से मन को निर्मल बनाकर विशुद्ध चित्त को ईश्वर में लगाते हैं।

परमा भक्ति-- यह दूसरी अवस्था है। पराभक्ति में साधक ईश्वर का दर्शन करता है। ईश्वर के दर्शन से भक्त भगवान के साथ एकाकारता का अनुभव करता है। प्रपत्ति शरणागति है। शरणागति के छः अंग हैं--

1. भगवान के अनुकूल विचार, संकल्प और कर्म करना।
2. भगवान के प्रतिकूल विचार, संकल्प और कर्म न करना।
3. भगवान की रक्षाशक्ति में विश्वास करना।
4. भगवान से रक्षा की प्रार्थना करना।
5. भगवान के चरणों में अपने को समर्पित करना।
6. भगवान के प्रति दिन भाव का प्रदर्शन करना।

इस प्रकार ईश्वर ही परम गति है,वे ही एक मात्र भर्ता और स्वामी हैं, हमारे आश्रय हैं, रक्षक हैं-- ऐसा मानकर उन्हीं पर निर्भर हो जाना, आज्ञा का पालन करना, उनका मनन-कीर्तन करना, प्रेम करना, उनके प्रतिकूल कुछ नहीं करना शरणागति है। शरणागति प्राप्त भक्त अनन्य गति को प्राप्त होता है। भक्त अपने आप को अकिंचन समझ कर भगवान को ही अपना रक्षक, पोषक और उद्धारक समझता है। यही आत्म समर्पण है। आत्म समर्पण तीन प्रकार के होते हैं--

1.फल- समर्पण -- अर्थात् फल का त्याग करना।

2.भार-समर्पण -- अपनी रक्षा का भार भगवान पर छोड़ना।

3. स्वरूप समर्पण -- अपने स्वरूप का त्याग कर भगवान के प्रति आत्म समीक्षा। अपने को भगवान से एकाकार समझना।

रामानुजाचार्य के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए शुद्ध 'अहं 'के ज्ञान की आवश्यकता है। अहं ईश्वर का प्रकार है। इस अहं के ज्ञान से ईश्वर में प्रेम बढ़ता है और आत्म समर्पण की भावना आती है। आत्म - समर्पण और अनन्य प्रेम से प्रसन्न होकर परमात्मा मोक्ष प्रदान करता है। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म भाव को प्राप्त करना ही मुक्ति है।"ब्राह्मणोभावः न तु स्वरूपैक्रयम् ।"6

निष्कर्ष

रामानुजाचार्य मानते हैं कि आत्मा का बन्धन पूर्व कर्मों का फल है। अविद्या के कारण आत्मा शरीर से जुड़ती है, जिससे उसमें अहंकार की भावना भर जाती है। इस प्रकार आत्मा बन्धन में पड़ जाती है। इनके अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति और प्रपत्ति अर्थात् पूर्ण आत्म समर्पण आवश्यक है। मुक्ति का चरम साधन अनन्य भक्ति और प्रवृत्ति है। इससे समस्त अविद्या जनित कर्म का नाश हो जाता है। तद्पश्चात शरीर की उत्पत्ति नहीं होती है। इस तरह आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है और वैसी आत्मा सर्वदा के लिए मुक्त हो जाती है। जो आत्मा ईश्वर की शरण में आत्म समर्पण कर देता है, ईश्वर में तल्लीन हो जाता है,वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

संदर्भ :-

1. *छान्दोग्य उपनिषद.* (6.1.2–7).
2. *छान्दोग्य उपनिषद.* (11.20.2).
3. *श्रीभाष्य.* (1.101).
4. *श्रीभाष्य.* (4.4.2).
5. *श्रीभाष्य.* (1.1.1).
6. *श्रीभाष्य.* (1.1.1).

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

गीता में ज्ञानयोग

डॉ. निवेदिता कुमारी*

niveditakumari228@gmail.com

गीता हिन्दुओं का अत्यंत ही पवित्र ग्रंथ है। गीता में सिर्फ धार्मिक विचार ही नहीं, बल्कि दार्शनिक विचार भी हैं। गीता समस्त भारतीय दर्शन का सार है। गीता उपनिषदों का सार है। इसमें उपनिषदों की गहराइयों को आसान और प्रभावी रूप में प्रस्तुत किया गया है। गीता को ईश्वरीय संगीत भी कहा जाता है क्योंकि इसकी रचना सुंदर छंदों में हुई है। इसमें स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने निर्देश दिया है।

महर्षि व्यास ने गीता की रचना की है। आधुनिक काल में बाल गंगाधर तिलक ने 'गीता रहस्य' नामक ग्रंथ लिखा है। महात्मा गाँधी ने भी 'अनासक्तियोग' नामक ग्रंथ की रचना की है। श्री अरबिन्द द्वारा 'गीतानिबन्ध' नामक ग्रंथ लिखा गया है। डॉ. राधाकृष्णन् मानते हैं कि गीता महाभारत का अंग है। गीता की मुख्य प्रवृत्ति समन्वयात्मक मानी गयी है गीता के समय अनेक विचार प्रचलित थे। सांख्य का मत प्रचलित था जिसमें यह माना गया है कि पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मीमांसा दर्शन में यह माना गया है कि मानव अपने कर्मों के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इस समय एक और विचार प्रचलित था कि उपासना और भक्ति से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद में ज्ञान कर्म और भक्ति की विवेचना हो जाने के बाद गीता में ज्ञान पर गंभीरता से विचार किया गया है। इस प्रकार गीता अपने समय के विरोधात्मक प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने का काम करती है। राधाकृष्णन् के अनुसार "गीता विरोधात्मक तथ्यों को समन्वय कर उन्हें एक समष्टि के रूप में चित्रित करती है।"[1]

योग शब्द का तात्पर्य है जुड़ना। गीता में योग शब्द का अर्थ है आत्मा का परमात्मा से जुड़ जाना। योग दर्शन में योग का अर्थ 'चित्त वृत्तियों का निरोध' है परन्तु गीता में योग का अर्थ है आत्मा से परमात्मा का मिलन गीता में मुख्य रूप से योग पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है। अतः गीता को योगशास्त्र भी कहा जाता है। सामान्यतः मनुष्य के मन में तीन प्रकार की अवस्था पाते हैं- ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक। इसी के अनुरूप गीता में भी ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का समन्वय पाते हैं। आत्मा इन तीनों योगों द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। गीता में ज्ञान कर्म और भक्ति को मोक्ष का मार्ग कहा गया है। शंकराचार्य ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति मानते हैं। मीमांसा दर्शन में कर्म के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का विचार है। रामानुजाचार्य भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति संभव मानते हैं। गीता में इन तीनों विचारों का समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया है। सभी मार्ग एक समान हैं। ज्ञान प्रधान व्यक्ति ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता है।

* **सहायक प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र विभाग, डोरण्डा महाविद्यालय, राँची**

राँची विश्वविद्यालय, राँची (झारखण्ड) - 834002

ज्ञानयोग परमात्मा को पाने का आध्यात्मिक मार्ग है। ज्ञानी आत्मा को परमात्मा से भिन्न नहीं समझते हैं। ज्ञानयोगी मानते हैं कि सृष्टि ईश्वरमय है। संसार और ईश्वर में कोई भेद नहीं है। विश्व ईश्वर का ही स्वरूप है। ईश्वर या परमात्मा से अलग किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है। भेद मिथ्या है, अभेद यथार्थ दृष्टि है। संसार में अनेकता को देखने वाला अज्ञानी है और एकता को देखने वाला ज्ञानी है।

अद्वैत वेदांती शंकराचार्य गीता को ज्ञानयोग प्रधान ग्रंथ मानते हैं। ये निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करते हैं। निवृत्ति मार्ग का अर्थ है कर्मसंन्यास मार्ग ।शंकराचार्य गीता की निवृत्तिमूलक व्याख्या करते हैं। निवृत्तिमूलक मार्ग का अनुसरण करने वालों का लक्ष्य है कर्म को त्यागना। अपनी सभी कामनाओं के साध स्वयं को परमात्मा में एकाकार कर देना ही ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग में ऐसा माना गया है कि विश्व परमात्मा का स्वरूप है। परमात्मा से अलग कुछ भी नहीं है । दृश्यमान जगत कर्म है जिनका कारण ब्रह्म है । ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही सत्य है, विश्व जो कि विकार है, मिथ्या है। इस मिथ्या जगत में ज्ञानी के लिए कोई काम नहीं है। ब्रह्मज्ञानी को कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती है। ज्ञानी व्यक्ति सबको एक समान समझता है।

ज्ञानयोग समत्व योग है। गीता में इसके तीन स्वरूप देखने को मिलते हैं -- 1.आत्मगत समत्व 2. वस्तुगत समत्व और 3. गुणातीत समत्व।

1.आत्मगत समत्व -- आत्मगत समत्व को स्थितप्रज्ञ भी कहा गया है। ये शब्द वेद, उपनिषद् में नहीं मिलते हैं। स्थितप्रज्ञ शब्द, गीता की देन है। स्थितप्रज्ञ का अर्थ है -- जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई हो। स्थिर बुद्धि के तीन लक्षणों की चर्चा गीता में की गई है --

क. जो सभी कामनाओं और वासनाओं को त्याग देता है।

ख. स्थितप्रज्ञ व्यक्ति परमात्मा में ही पूर्ण संतुष्ट रहता है । भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं --

"प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।"[2]

अर्थात् जब मनुष्य मनोधर्म से उत्पन्न होने वाली इन्द्रीय तृप्ति की समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है और जब इस तरह से विशुद्ध हुआ उसका मन आत्मा में संतोष प्राप्त करता है तो वह विशुद्ध दिव्य चेतना प्राप्त कहा जाता है, स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

ग. जो न दुःख से दुःखी होता है और न सुख से सुख का अनुभव करता है। भगवान कहते हैं --

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।"[3]

अर्थात् जो त्रय तापों के होने पर भी मन में विचलित नहीं होता अथवा सुख में प्रसन्न नहीं होता और जो आसक्ति, भय तथा क्रोध से मुक्त है, वह स्थिर मन वाला मुनि कहलाता है, स्थितप्रज्ञ कहलाता है। दुःख से

व्याकुल न होना और सुख की लालसा मन में नहीं आने देना साधारण व्यक्ति के लिए असंभव है। ऐसा वही कर सकता है जिसकी बुद्धि स्थिर हो। ऐसे व्यक्ति के मन में राग, द्वेष, भय, क्रोध आदि नहीं रहते हैं।

2. वस्तुगत समत्व -- वह व्यक्ति जो सभी के प्रति एक भाव रखता हो। मित्र या शत्रु, अच्छे --बुरे सभी को एक समान देखना, सम्पूर्ण जगत को अपना परिवार समझना -- वस्तुगत समत्व है।

3. गुणातीत समत्व -- यह सुख - दुःख से विचलित नहीं होने की स्थिति है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है -- "यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोमृतत्वाय कल्पते।।"[4] अर्थात् हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! जो पुरुष सुख तथा दुःख में विचलित नहीं होता और इन दोनों में समभाव रखता है, वह निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है। इसी आशय से भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को जय-पराजय को समान समझकर युद्ध करने का आदेश देते हैं –

"मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।"[5]

अर्थात् जो मान और अपमान में सम है, मित्र और शत्रु पक्ष में भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है;वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।

जगत को आभास और आत्मा को ब्रह्म समझना ही ज्ञानयोग है। ज्ञानी के लिए दृश्य जगत माया है। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी यथार्थ नहीं है। ब्रह्म एक है, शुद्ध ज्ञान स्वरूप है। जगत में दृश्य अनेकता माया है, असत् है। एकत्व ही सत् है। आत्मा ही ब्रह्म है। जगत में सब कुछ आत्म स्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है। यह एकत्व दर्शन ही ज्ञानयोग स्वरूप है। उपनिषद् में कहा गया है --

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखम्।" [6]

अर्थात् तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है, तू ही वृद्ध होकर दण्ड के सहारे चलता है तथा तू ही प्रपंच रूप से उत्पन्न होने पर अनेक रूप हो जाता है।

गीता के ज्ञानयोग में भी यही एकात्म दृष्टि है। ज्ञानी आत्मा को ही सब भूतों में स्थित देखता है और सब भूतों को आत्मा में स्थित देखता है --

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।"[7]

एक अद्वितीय, सच्चिदानंदघन, परब्रह्म, परमात्मा ही सत् तत्त्व है, परमात्मा से भिन्न सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। इस रहस्य को जाननेवाला ही ज्ञानयोगी है। ज्ञानयोगी परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित हो सम्पूर्ण आत्मा में एक अद्वितीय आत्मा अर्थात् ब्रह्म को ही देखता है तथा समस्त चराचर जगत् को आत्मा में ही स्थित

देखता है । ऐसे ब्रह्मभूत योगी को ही 'योगयुक्तात्मा' अथवा 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' कहा गया है। ब्रह्म भूत होने के कारण ही उसे सारी सृष्टि ब्रह्ममय दिखती है;वासुदेव की सत्ता ही सारे जगत् में व्याप्त है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं--

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।"[8]

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण भूतों में सबके आत्मस्वरूप मुझ वासुदेव को ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझ वासुदेव के अन्तर्गत देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह भी मेरे लिए अदृश्य नहीं होता।

गीता में ज्ञानयोगी को समदर्शी कहा गया है। ज्ञान के कारण ही ज्ञानी सम्पूर्ण जगत् के प्राणी को एक भाव से देखता है। ज्ञानयोगी में हमेशा समभाव रहता है, विषम भाव उत्पन्न ही नहीं होता। गीता में कहा गया है --

"विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।"[9]

अर्थात् ज्ञानीजन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में, गौ में, हाथी में और चाण्डाल में भी समदर्शी होते हैं। तत्त्व ज्ञानी का विषम भाव बिल्कुल नष्ट हो जाता है। इनकी दृष्टि में एक परमात्मा की ही सत्ता है। इस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में सर्वत्र समभाव हो जाता है। ब्राह्मण और चाण्डाल में व्यावहारिक दृष्टि से भेद है परन्तु ज्ञानी की दृष्टि में अभेद है क्योंकि तत्त्वज्ञानी सबको ब्रह्मस्वरूप या आत्म स्वरूप मानता है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं --

"यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत् एव च विस्तारं ब्रह्म समाद्यते तदा ।।"[10]

अर्थात् जिस क्षण पुरुष भूतों में पृथक भावों की एक परमात्मा में ही स्थिति तथा उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानंदघन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि गीता में ज्ञानयोग के मुख्य तीन स्वरूप हैं --

1. बहिरन्तश्च भूतानाम चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।"[11]

अर्थात् सारी सृष्टि ब्रह्ममय है। समस्त भूतों के बाहर-भीतर एकमात्र परमात्मा ही है।

2. तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तनिन्नष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञान निर्धूतकल्मषाः।।"[12]

अर्थात् जो कुछ दृश्यमान है, वह माया है, क्षणिक है, विनाशी है। यथार्थ में सिर्फ एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है। इस प्रकार के भाव से परमात्मा में तद्रूप हो जाना ही एकीभाव की स्थिति है।

3.योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर् ज्योतिरेव यः ।

स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।"13

अर्थात् प्रतीयमान विश्व ब्रह्म है। ब्रह्म ही आत्मा है। अतः सम्पूर्ण जगत् आत्म रूप है। चर-अचर सब ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ,अतः सब मेरा ही स्वरूप है -- इस भाव के जागृत होने से मनुष्य आत्मद्रष्टा हो जाता है। वह आत्मा में ही जगत के प्रकाशपुंज का अनुभव करता है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं --

"तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।"14

अर्थात् जो परमज्ञानी और शुद्ध भक्ति में लगा रहता है, वह सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि मैं उसे अत्यंत प्रिय हूँ और वह मुझे प्रिय है।

निष्कर्ष --

ज्ञानयोगी सर्वत्र आत्मतत्त्व का दर्शन करता है। ज्ञानी की दृष्टि में सभी प्राणी एक समान होते हैं। सम्पूर्ण जगत् ईश्वरमय है। यदि ईश्वर सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है तो अनेकता का भी प्रश्न नहीं उठता है। एक ही ब्रह्म सत्य है। अनेकता मिथ्या है। एकत्व का ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद कर्मों की अपवित्रता का नाश हो जाता है और व्यक्ति सदा के लिए ईश्वरमय हो जाता है।

संदर्भ :-

1. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली. *भारतीय दर्शन* (भाग–1). पृ. 529.
2. भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 55.
3. भगवद्गीता, अध्याय 3, श्लोक 55.
4. भगवद्गीता, अध्याय 2, श्लोक 15.
5. भगवद्गीता, अध्याय 14, श्लोक 25.
6. श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय 4, मन्त्र 3.
7. भगवद्गीता, अध्याय 6, श्लोक 29.
8. भगवद्गीता, अध्याय 6, श्लोक 30.
9. भगवद्गीता, अध्याय 5, श्लोक 18.
10. भगवद्गीता, अध्याय 13, श्लोक 31.
11. भगवद्गीता, अध्याय 13, श्लोक 15.
12. भगवद्गीता, अध्याय 5, श्लोक 17.
13. भगवद्गीता, अध्याय 5, श्लोक 24.
14. भगवद्गीता, अध्याय 7, श्लोक 17.

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य : समस्याएँ, चुनौतियाँ एवं समाधान

डॉ० अल्पना सिंह*

alpanasingh502@gmail.com

सारांश :

ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य किसी भी समाज की संरचना, प्रगति एवं आर्थिक विकास का आधार होता है। प्रस्तुत शोधपत्र ग्रामीण महिलाओं की स्वास्थ्य स्थिति, पोषण समस्याओं, मातृ-शिशु मृत्यु दर, स्वास्थ्य सेवा उपलब्धता तथा सामाजिक-आर्थिक बाधाओं का विश्लेषण करता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गरीबी, स्वास्थ्य सेवाओं की कमी, सामाजिक भेदभाव, पोषण की कमी, कम उम्र में विवाह तथा बार-बार गर्भधारण जैसी स्थितियाँ महिलाओं के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में किशोरियों में कुपोषण, स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव और स्वास्थ्य जागरूकता की कमी उनकी स्थिति को और अधिक गंभीर बनाती है। महिलाओं को स्वास्थ्य केंद्रित नीति की मुख्यधारा में लाकर ही एक स्वस्थ समाज व राष्ट्र का निर्माण संभव है।

मुख्य शब्द : *ग्रामीण महिला, स्वास्थ्य, प्रसव, चिकित्सा, पोषण*

स्वास्थ्य जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है, जो व्यक्ति को पूर्ण जीवन जीने में सक्षम बनाता है। ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन से, बल्कि परिवार, समाज और राष्ट्र के विकास से प्रत्यक्ष जुड़ा होता है। महिलाएँ घर-परिवार, कृषि, पशुपालन और आर्थिक कार्यों में समान रूप से योगदान देती हैं, इसलिए उनका स्वास्थ्य बेहतर होना अत्यावश्यक है।

भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी महिलाएँ आवश्यक स्वास्थ्य सेवाओं, पोषण एवं जागरूकता से वंचित हैं। यह शोधपत्र ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य की वर्तमान स्थिति, समस्याओं और समाधान की आवश्यकता पर प्रकाश डालता है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषदके अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकांश महिलाएँ पर्याप्त प्रसव पूर्व देखभाल, सुरक्षित प्रसव सेवाएँ और पोषण सुविधाओं तक समय पर नहीं पहुँच पातीं। प्रसव और प्रसवोत्तर देखभाल की कमी के कारण उनकी स्वास्थ्य जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं।

अध्ययनों में यह भी पाया गया कि— 30% कुपोषित माताओं में भ्रूण का विकास अवरुद्ध रहता है। प्रति हजार जन्मों में 11 नवजात शिशुओं की मृत्यु गर्भकालीन समस्याओं के कारण होती है। 18–20 वर्ष की आयु में गर्भधारण करने वाली लड़कियों में जटिलताएँ दो गुना अधिक होती हैं क्योंकि उनका शरीर अभी विकासशील अवस्था में होता है।

*** सहायक प्रोफेसर, गृह विज्ञान, दीनानाथ पांडेय राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देवरिया**

ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य की बात की जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन महिलाओं की स्वास्थ्य के संबंध में विभिन्न समस्याएं सामाजिक और सांस्कृतिक रुकावट के रूप में आकर खड़ी हो जाती है जिनमें प्रमुख हैं : -

महिलाओं के स्वास्थ्य की उपेक्षा, विवाह की कम आयु, प्रसव के प्रति लापरवाही, घर और बाहरी कार्यों का दोहरा बोझ, पुरुष प्रधान मानसिकता, निर्णय लेने का अधिकार न होना।

उपरोक्त बाधाओं ने महिलाओं के विशेष रूप से ग्रामीण महिलाओं के अस्तित्व को झकझोर कर रख दिया है जिसका सीधा प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ता है।

राष्ट्रीय पोषण संस्थान के अनुसार—

20% महिलाएँ पोषक तत्वों की कमी से आकस्मिक मृत्यु का जोखिम झेलती हैं। 50% से अधिक ग्रामीण महिलाएँ एनीमिया से पीड़ित हैं। प्रोटीन, आयरन, कैल्शियम तथा विटामिन की कमी सबसे आम समस्या है।

यह आंकड़े यह सिद्ध करते हैं कि ग्रामीण महिलाएं पोषक तत्वों की कमी से मुख्यतः प्रभावित हो रही हैं जिसका सीधा संबंध उनके स्वास्थ्य से है। उसके पीछे प्रमुख कारण है :गर्भावस्था में संतुलित भोजन का अभाव, लड़कियों के स्वास्थ्य को अनदेखा करना, बार-बार गर्भधारण, गर्भवती महिलाओं में पोषण संबंधी जागरूकता का अभाव इत्यादि।

ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य वर्तमान में उपेक्षित दिख रहा है। हां एक तरफ उन्हें पोषक तत्वों की कमी का प्रभाव झेलना पड़ रहा है वहीं दूसरी तरफ अज्ञानता, गरीबी, नवजात शिशु की मृत्यु दर का अधिक होना, परिवार में यथोचित सम्मान न मिलना इत्यादि सभी कारक मिलकर उनके स्वास्थ्य को पूर्णतया प्रभावित कर रहे हैं। यहां तक की विभिन्न स्वास्थ्य सेवाएं जो सरकार द्वारा संचालित है और उनके विकास को बेहतर बना सकते हैं उनमें भी कुछ कमियां है जैसे:- उपस्वास्थ्य केंद्रों की दूरी, प्रशिक्षित दाई/ANM की अनुपलब्धता, प्रसव का घरों में असुरक्षित तरीकों से होना; स्वास्थ्य जागरूकता की कमी; किशोरियों के स्वास्थ्य की अनदेखी करना तथा उन्हें उचित पोषण शिक्षा का ज्ञान ना होना।

अध्ययनों के अनुसार, ग्रामीण किशोरियाँ कुपोषण का सबसे अधिक शिकार होती हैं। लगातार लड़कियों की उपेक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं के कम उपयोग के कारण किशोरावस्था में ही गर्भधारण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो गंभीर स्वास्थ्य जोखिम पैदा करती है जिससे वे पूर्णतया उबर नहीं पाती।

महिलाओं की गंभीर स्थिति को देखते हुए उन्हें सशक्त व ऊर्जावान बनाने के उद्देश्य से सरकार द्वारा विभिन्न योजनाएं संचालित की गई जिससे महिलाओं के स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा तथा कल्याण के क्षेत्र में विकास संभव हो सके जिनमें प्रमुख हैं :

राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (NHM)

जननी सुरक्षा योजना

बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम इत्यादि।

राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन जिसकी शुरुआत 12 अप्रैल 2005 को हुई थी और यह मिशन इस उद्देश्य से शुरू किया गया कि भारत के ग्रामीण और शहरी इलाकों में स्वास्थ्य सेवाओं को बेहतर बनाया जाए, वही जननी सुरक्षा योजना को राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के तहत ही 2005 में शुरू किया गया जो गर्भवती महिलाओं को बेहतर स्वास्थ्य देखभाल की सुविधा दे सके और मातृ शिशु मृत्यु दर को कम कर सके, इतना ही नहीं महिलाओं के स्वास्थ्य के साथ-साथ उनकी सामाजिक जागरूकता को बढ़ाने के उद्देश्य से 2015 में बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ योजना की शुरुआत भी की गई जिससे बालिकाओं की शिक्षा और सामाजिक जागरूकता को बढ़ाने के साथ-साथ उनकी सुरक्षा को भी सुनिश्चित किया जा सके। स्वतंत्रता प्राप्त के बाद से ही इस बात की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी कि ग्रामीण परिवारों के स्वास्थ्य व जनसंख्या नियंत्रण को बढ़ावा देना है।इसी उद्देश्य के तहत 1952 में राष्ट्रीय परिवार कल्याण कार्यक्रम की शुरुआत की गई जिससे परिवार नियोजन, प्रजनन स्वास्थ्य और जनसंख्या नियंत्रण को प्रोतसाहित किया जा सके।

किन्तु अध्ययन दर्शाते हैं कि ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य पोषण व सम्मान हेतु विभिन्न योजनाएं संचालित की गई किंतु कुछ ऐसे प्रमुख कारक हैं जिन्होंने ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य व विकास को प्रभावित किया है जिनमें प्रमुख हैं:

- योजनाओं का लाभ पूरी तरह नहीं पहुँच पा रहा है।
- विभागों के बीच समन्वय की कमी है।
- स्वास्थ्य सेवाओं की जागरूकता ग्रामीण स्तर पर सीमित है।
- ग्रामीण महिलाओं में पोषण संबंधी जगरूकता का अभाव है।
- ग्रामीण महिलाओं का निम्न जीवन स्तर एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में अपनी भूमिका निभा रहा है।
- ग्रामीण महिलाओं पर परंपराओं और रूढ़ियों का अत्यधिक प्रभाव है।

उपरोक्त वर्णित विभिन्न समस्याओं से निजात पाना अति आवश्यक हो गया है।जिससे ग्रामीण महिलाओं का भी सर्वांगीण विकास संभव हो सके।

ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य सुधार हेतु निम्न उपाय यदि अपनाएं जाए तो स्थिति में निःसंदेह परिवर्तन दिखाई देगा।

- स्वास्थ्य जागरूकता कार्यक्रमों का विस्तार।
- किशोरियों के लिए आयरन, फोलिक एसिड और पोषण शिक्षा।
- सुरक्षित मातृत्व सेवाओं की उपलब्धता।
- महिलाओं के लिए पृथक स्वास्थ्य नीति।(Women-Centric Health Policy)
- पोषण अभियान के अंतर्गत सूक्ष्म पोषक तत्वों की आपूर्ति।

- महिला स्वयं सहायता समूहों द्वारा स्वास्थ्य प्रशिक्षण।
- कम आयु में विवाह और बार-बार गर्भधारण पर रोक।
- ग्राम स्तर पर सब-हेल्थ सेंटर को मजबूत करना।

निष्कर्ष :-

महिलाएं परिवार की आधारशिला होती हैं। केंद्र बिंदु होती है। ग्रामीण महिलाओं का स्वास्थ्य किसी भी राष्ट्र के विकास की पहली शर्त है। यदि महिलाएँ स्वस्थ होंगी, तभी परिवार, समाज और आने वाली पीढ़ियाँ स्वस्थ रह सकेंगी। वर्तमान परिस्थितियों में यह आवश्यक हो जाता है कि महिलाओं से संबंधित स्वास्थ्य सेवाओं को अधिक सशक्त बनाया जाए और एक समग्र, महिला-केंद्रित स्वास्थ्य नीति अपनाई जाए। महिलाओं को राष्ट्रीय विकास की मुख्यधारा से जोड़कर ही एक स्वस्थ राष्ट्र का निर्माण संभव है।

संदर्भ :-

World Health Organization. *Maternal health country trends for India*. Retrieved December 11, 2016, from https://www.who.int/gho/maternal_health/countries/ind_trends/en/

Directorate of Census Operations, Haryana. (2015). *Census of India 2011 - Haryana - Series 07 - Part XII A - District Census Handbook, Kaithal*. Chandigarh, India: Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. Retrieved from https://censusindia.gov.in/nada/index.php/catalog/424

Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. (2013). *Annual report to the Parliament on the working of the Ministry of Health and Family Welfare (including Department of Health and Family Welfare and Department of AYUSH) 2012-2013*. New Delhi, India: Ministry of Health and Family Welfare.

Ministry of Health and Family Welfare, Government of India. (2014). *Annual report to the Parliament on the working of the Ministry of Health and Family Welfare (including Department of Health and Family Welfare and Department of AYUSH) 2013-2014*. New Delhi, India: Ministry of Health and Family Welfare. Retrieved from https://nhm.gov.in/images/pdf/media/publication/Annual_Report-Mohfw.pdf

Food and Agriculture Organization of the United Nations. (2013). *Women and nutrition in India: A situation analysis*. Rome, Italy: FAO.

World Health Organization, United Nations Children's Fund, United Nations Population Fund, & World Bank. (2014). *Trends in maternal mortality: 1990 to 2013. Estimates by WHO, UNICEF, UNFPA, The World Bank and the United Nations Population Division*. Geneva, Switzerland: World Health Organization.

UGC Approved Journal No. 49359 ISSN 22 31-1351

हिंदी साहित्य में कामकाजी औरत

डॉ. महादेवी कणवी*

kanavihindi@gmail.com

भूमिका :-

भारत के सभी औरतें कामकाजी होती महिला घर हो या बाहर कहीं न कहीं काम जरूर करती है मगर घरेलू स्त्री के श्रम को नारी का जन्मजात कर्तव्य माने जाने के कारण खुद महिला भी घर के कामों के पैसे घर के कामों को पैसे कमाने के उद्देश्य से नहीं करती क्योंकि स्त्री घर में काम नहीं करती बल्कि घर को सजाती है। उसमें उसे नारी का अपनापन झलकता है। घर के कामों पर उसका स्वामित्व होता है इसलिए बाहर काम करके पैसे कमाने वाली औरत को कामकाजी महिला कहा जा सकता है।

संविधान के जारी होने के साथ भारत के प्रत्येक वर्ग की महिला को शिक्षक की व्यवस्था और सुविधा मिली। अब शहर और गांव के सभी माता-पिता अपने लड़कियों को पढ़ना चाहते हैं। लेकिन इन कानून का इन सुविधाओं का अधिक लाभ प्रायः शहरी मध्य वर्गीय महिलाओं ने उठाया है ग्रामीण महिलाएं अब भी इन सुविधाओं से वंचित है।

बीज शब्द :-

आत्मा निर्भरता, आर्थिक सुविधा, आत्म सम्मान, नैतिक जिम्मेदारी, कार्यक्षेत्र, असंगठित यौन उत्पीड़न, घरेलू शोषण, करियर, समझौता, कमाऊ महिला, सामाजिक परिवर्तन

शोध पद्धति : अनुसंधान अध्ययन के सहारे विवरणात्मक और वर्णनात्मक शोध पद्धति को अपनाया गया है। रोज के व्यवहार के आँखों देखी उदाहरणों का सहारा लिया गया है।

विषय विस्तार :

स्त्री को अब अपनी आर्थिक आत्मनिर्भरता उसके लिए बचाव का अस्त्र है। परिवार का श्रम का कोई मूल्य न होने के कारण स्त्री पैसे कमाने के उद्देश्य से काम करना चाहती है। यह आर्थिक आत्मनिर्भरता उसके आत्म सम्मान और व्यक्तित्व का रक्षक है। मगर सच तो यह है, कि आर्थिक शक्ति से संपन्न स्त्री को ज्यादा शक, संदेह, और तिरस्कार की नजरों से देखा जाता है। उसे काबू में रखने के लिए दूर भी संधियाँ रची जाती है। स्त्री घर परिवार और दफ्तर में काम पर जाती है वहां उसे दोयम दर्जे पर रखा जाता है। और तो और उसे दोहरी जिम्मेदारियां को संभालना पड़ता है। घर का कामकाज में कोई कमी नहीं आई है। पर अतिरिक्त कार्य भार

* **सहायक प्राध्यापिका, हिंदी विभाग, के. एल. ई. संस्था का जी. एच. कॉलेज हावेरी, कर्नाटक**

संभालना पड़ रहा है। फिर भी उसका कामकाजी होना सामाजिक और राजनीतिक परिपेक्ष्य में उसकी ठोस भागीदारी और हक को सुनिश्चित करता है।

स्त्री संघर्ष की एक पहलू यह भी है कि महिला घर से बाहर रहकर भी हमेशा घर की चिंताओं में लगी रहती है। वह अक्सर कहती हुई नजर आती है, कि घर में अकेले बच्चों को छोड़कर कम पर आना पड़ा। मन लगा रहता है उनके पास तन लगा है यहां दफ्तर में। कितनी जगह पर बांट कर रह गई मैं। कोई भी खुश नहीं रहता मुझे से अब बताओ सब की अपेक्षाएँ कहां तक पूरी करती फिरूँ मैं भी तो एक इंसान हूं। मशीन तो नहीं?

नारी वादी फ्रांस की लेखिका सुमोन-द-बुआ ने कहा है कि पहले इसका एक मलिक था पर अब दो हो गए हैं। दफ्तर में बस और घर में पति। ऐसी स्थिति में वह कई विभाजित हो गई है। अपने कर्तव्यों में भी अपने उत्तरदायित्व में भी। दो बोझ में वह दब गई है। घरेलू शोषण इत्यादि से भी मुक्ति नहीं हो पा रही है। बल्कि एक और शोषण जुड़ गया है। आए दिन महिला कर्मियों के साथ बुरे व्यवहार के समाचार आते रहते हैं। कठिन नियम बनाई गई है। मगर बहुत सी स्त्रियां अपने बॉस के खिलाफ जाने से डरती है। क्योंकि उसे अपनी नौकरी खोने का डर है। वह नौकरी छोड़ना नहीं चाहती उसे कामना है। अपने और परिवार के जरूरत के लिए। जब महिलाएं कमाकर घर की जिम्मेदारियां अपने कंधों पर लेने लगी है, तब से मध्य वर्गीय और निम्न मध्य वर्ग के पुरुष और भी निश्चित हो गए हैं। अपनी कमाई अपने ऐश के लिए इस्तेमाल करते हैं। या फिर कुछ लोग पत्नी की कमाई पर जीते हैं। कामकाजी औरत के साथ यह विडंबना है। फिर भी वह अपनी कमाई पति और ससुराल वालों के हित के लिए उपयोग करती है। हमने यह भी देखा है अनेक माता-पिता अपनी कमाऊ बेटी का ब्याह करना ही नहीं चाहते क्योंकि शादी के बाद बेटी की कमाई पर ससुराल वालों का हक बन जाता है।

अगर कोई लड़की अपना पति खुद ढूंढ ले तो वह बेटी माता-पिता के सबसे बड़ी दुश्मन बन जाती है। एक घटना यह भी है, की एक नौकरीपेशा लड़की मायके वालों ने उसकी शादी के लिए शर्त रखा था अगर तुम हर महीने हमें 5000 देगी तभी हम तुम्हारी शादी करके देंगे। क्योंकि हमने तुम्हें भी लड़कों के समान पढ़ाया लिखाया है। लेकिन जब बात जायदाद की बंटवारे की आई तब साफ शब्दों में कहा गया ब्याही गई लड़की को पिता की संपत्ति पर कोई नैतिक अधिकार नहीं होते। इस संदर्भ में वरिष्ठ पत्रकार 'राजेंद्र यादव' की बात बहुत सही है पहले यह धरना थी कि आर्थिक स्वतंत्रता या आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री सामाजिक परिवर्तन में मुख्य भूमिका अदा करेगी मगर देख आ गया है कि स्त्री के आजादी अर्जित संपत्ति या वेतन पर या तो माता-पिता का कब्जा होता है या ससुराल का अपने मन से जब भी वह खर्च करेगी तो एक अपराध बोध मन में रहता है कि कहीं इसका जवाब देना पड़ेगा।

शादी के संदर्भ में नौकरी पेशा औरत को अपनी मृत्यु को कोने में रखते हुए समझौता कर लेना पड़ता है बाहर के काम को एक तरफ छोड़कर मां पत्नी का रोल निभाना पड़ता है शिक्षक और उद्योग में अगर पत्नी पति से भी उच्च स्थान पर है तो झगड़े की संभावनाएं भी अधिक है एक तरफ मां होकर एक तरफ ग्रहणी होकर

उसकी जिम्मेदारियां अधिक है अगर बच्चे स्कूल नहीं जा रहे हैं तो उसकी स्थिति और भी कष्टदायक हो जाता है। एक अध्ययन के अनुसार शिक्षित और कामकाजी औरतों के सामने निम्न चुनौतियां हैं :-

- महिला को मिली स्वतंत्रता के कारण पारिवारिक संबंधों में होने वाले परिणाम
- परिवार के बाहर उसके स्थान मान और घर में उसकी स्थिति के बीच के संबंध
- घर के काम और बच्चों की देखभाल और जिम्मेदारी के बंटवारे का प्रश्न
- काम के सिलसिले में अन्य मर्दों के साथ मेल-मिलाप से पति और परिवार वालों के संबंधों में दरार

ऐसे तमाम समस्याओं कामकाजी औरत के साथ है। भारतीय परिवार में घर को और बच्चों की देखभाल नारी के हिस्से का माना गया है। इस कारण महिलाएं अधिक समस्याओं से गुजरती है। करियर में स्त्री अपनी आशाओं को दर्द किनारे रखते हुए घर वालों के निर्णय के अनुसार चलती है। हमने देखा है कि कई लड़कियां शादी के बाद अपना अच्छा खासा काम छोड़कर पति के शहर या फिर पति के नजदीक वाला काम ढूंढती है। मगर पति अपना काम पत्नी की वजह से नहीं बदलता। परिस्थितियों बदल रही है फिर भी महिला पर ही बोझ बढ़ता जा रहा है। नारी अपनी अर्जित शिक्षक की वजह से स्व प्रतिष्ठा के कारण या फिर आर्थिक सहायता के लिए काम पर जाती है। स्त्री अपनी कमाई का इस्तेमाल परिवार के हित के लिए या फिर बच्चों के हित के लिए करती है इसलिए पति और पति के घर वाले चाहते हैं की बहू कमाए लेकिन घर के सभी जिम्मेदारियां को भी निभाएं। घर वाले उसकी परेशानियों को समझेंगे तो उसके मुश्किलें थोड़े कम होंगे।

भूमंडलीकरण के समय होने के कारण आज की नारी के सामने उद्योग के नए अवसर खुल रहे हैं नयी आर्थिक नीतियाँ बनती जा रही है। इस पर प्रभा खेतान अपने पुस्तक बाजार के बीच बजार के खिलाप किताब में श्रम स्त्रीकरण की चार प्रक्रियाओं को बनती है। जो हैं :-

१. पुरुषों की तुलना में श्रम के बाजार में स्त्री की बढ़ती हुई भागीदारी

२. जिस कामों पारंपरिक रुप से पुरुष कर रहे हों उसको औरतें करने लगे।

३. घरेलू उद्योग में अदृश्य श्रम शक्ति के रुप में स्त्री मौजूदगी

४. उद्योग व्यवस्था के परिवर्तन के कारण कम मजदूरी वाले और अनियमित और अस्थायी ठेकों में स्त्री की अधिक नियुक्ति।

मीडिया में, बीड़ी कारखानों में, दवा और वस्त्र उद्योग में, लड़कियों को आसानी से काम मिल जाता है। क्योंकि ये औरतें असंगठित होते हैं उन्हें समय आने पर छंटनी आसानी की जाती है। यहां पर अविवाहिता स्त्रियों को अधिक लिया जाता है, ताकि उन्हें मातृत्व अवकाश देने की नौबत नहीं होती। प्रभा खेतान बताती

है, कि कुल श्रमिकों में हम पाते हैं ५३% अविवाहिता ३४% विवाहिता ६% तलाक शुदा और ४% विधावायें हैं। जिनमें अविवाहिता स्त्रियों की कोई घरेलू जिम्मेदारी नहीं होती उनके बच्चों की देखरेख करने के लिए शिशु सदन की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती।

उद्योग के क्षेत्र में नए-नए उपकरण आ रहे हैं जिससे महिलाओं को सुविधा हो रही है। मध्यवर्ग की नौकरी पेशा औरत इन नए उपकरणों की इस्तेमाल से अपने काम का बोझ हल्का कर सकती है। नगरों और महानगरों की शिक्षित महिलाएं इन उपकरणों का अच्छे से इस्तेमाल कर रही है। नयी तकनीकी के सहारे अनेक लड़कियाँ भी नौकरी ले रही है। इन लड़कियों का करियर इंटरनेट में शुरू हो जाता है परन्तु अधिकांश औरतें कम पढ़ी लिखि न होने के कारण और कुछ महिलाएं उम्र के कारण नए काम सीख नहीं पा रही है। इनमें से बहुत सी औरतें प्रौढ़ और वृद्ध है। जो नयी स्थिति में नयी तकनीक सीखने में असमर्थ है। अधिकांश लोग चाहते हैं, की लड़कियाँ देर-देर रात तक काम न करें क्यों कि असुरक्षा होगी दूसरी बात घर वाले कभी यह नहीं चाहेंगे कि उनकी लड़कियाँ देर रात तक घर बाहर रहे। इसलिए क्षमता होने पर भी लड़कियाँ ओवर टाइम काम नहीं कर सकती कभी-कभी लड़कियाँ को ज्यादा कमाने की जरूरत होती है, तब भी। श्रमिक महिलाओं के साथ यह भी दिक्कत है, कि उन्हें घर जाकर घर के काम संभालने होते हैं पानी भरने लाईन में खड़ा होना पड़ता है। बच्चों की देखरेख करनी पड़ती है। खाना भी पकाना पड़ता है।

अबतक नगरों महानगरों में काम कर रही मध्य वर्गीय और निम्न मध्य वर्गीय महिलाओं की बातें हो गई देहातों में खेतों खलिहानों में काम कर रही कृषि कार्मिक, मिल में काम करती नारियाँ घरों में झाडू बर्तन का कम कर रही महिलाएं असंगठित जगहों पर काम करने वाली महिलाओं को काम की गारंटी नहीं होती। सुरक्षा भी नहीं मिलती वेतन का मानदंड भी निश्चित नहीं होता। खेतों में काम करने वाली औरतों को और घर बांधने का काम करने वाली औरतों को पुरुष के मुकाबले कम वेतन दिया जाता है। काम के जगह में मालिक और अपने ऊपर के अधिकारी से यौन सुरक्षा का भी कोई गारंटी नहीं होता शहरों में और महानगरों में ऐसे अनेक स्त्रियां काम करती हैं जिनको खल के काम का कोई भरोसा नहीं होता। भारत में इस तरह के काम करने वाली औरतों को बीमा की सुविधा भी नहीं होती कुछ फ़ैक्टरियों में ग्रेचूइटी की सुविधा है, मगर अधिकांश जगहों पर नहीं। कपड़ा हथकरघा, तम्बाकू और खाद्यान्न के क्षेत्र में स्त्रियां पहले से थी मगर इन क्षेत्र में बढ़ती हुई यांत्रिकिकरण के कारण एवं बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हस्तक्षेप के कारण छंटनी बढ़ती जा रही है।

छोटे शहरों और महानगरों में बड़ी संख्या में औरतें स्वरोजगार में जुड़ी है, जैसे पापड़ बनाना, आचार डालना, चटनी बनाना, वड़ा बनाना, आदि के साथ छोटे मोटे बुनाई का काम करती हैं ये औरतें स्त्री शक्ति संघटनों से जुड़कर ये काम करती हैं लेकिन इन महिलाओं को सरकार की ओर से अ नहीं मिलता स्वसहाय संघटनों की अनुदान में भी कमी आ गई है। करोड़ों की संख्या में घरों में रहकर महिलाएँ अपना काम करती है। लेकिन इनकी गणना दफ्तरी गणना में नहीं होती अर्थव्यवस्था में इनका योगदान राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार नहीं है।

अपने आप में श्रम का यह अदृश्य और असंगठित क्षेत्र है। जिसका महत्व श्रमिक संघटन गैर सरकारी संघटन समझने लगे हैं।

देह व्यापार से जुड़ी औरतें भी पैसा कमाती है। उनका मानना है कि हम भी पैसे के बदले ग्राहक को खुश करते हैं ऐसे में यह अनैतिक कमाई कैसी हो गई ? जो भी हो ये औरतें भी पैसा कमाने के लिए धंधा करती है। कहीं-कहीं यह भी देखा गया है, बार में काम करने वाली लड़कियाँ जिस्म व्यापार करने वाली औरतें अपनी कमाई से घर चलाती है। मुम्बई, पुणे, कलकत्ता शहरों में बड़ी संख्या की औरतें रेड़लाईट एरिया में काम करती है।

पुरुष भी चाहते हैं औरतें कमायें इससे उनका बोझ कम होता है उन्हें कल की चिंता नहीं सताती कल को यदि वह नहीं रहेगा तो भी बच्चों की परवरिश अच्छी तरह से हो सकती हैं। औरतें भी अब पहले जैसे नहीं रही वे मानने लगी है, घर को चलाना सिर्फ मर्दो का काम नहीं है। कार्यक्षेत्र में अधिक संख्या में भाग ले रही है। जिससे आर्थिक सुविधा मेल रहे है। है। लेकिन में यौन उत्पीड़न घटा नहीं है। मानव संसाधन मंत्रालय से आदेश मिला है, कि हर स्कूल कालेज में जहां महिलाएं काम करती हैं वहां ऐंटी सेक्सूअल हराशमेंट सेल की स्थापना जरूरी है। सेल बी बनाये जा रहे हैं पर देखना यह है, कि ये सेल कितना काम करेगी बहुत सी काम करती औरतों को इस तरह की कोई सेल के बारे भी जानकारी भी न होना हैरानी की बात है।

संदर्भ :

1. पांडेय, मनोज कुमार. *नारी साम्राज्य*. नागपुर: विद्या भारती प्रकाशन.
2. प्रसाद, कमल, & शर्मा, राजेंद्र (संपा.). (2004). *स्त्री मुक्ति का सपना*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
3. मलिक, विष्णु देव. *21वीं सदी के साहित्यिक विमर्श*. कानपुर: विकास प्रकाशन.
4. कुमार, राधा. (2011). *स्त्री संघर्ष का इतिहास*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
5. नसरीन, तस्लिमा. (2016). *औरत के हक में*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.
6. सागर, शैलेंद्र, & गुप्ता, रजनी. (2012). *आजाद औरत कितनी आजाद*. नई दिल्ली: समायक प्रकाशन.
7. केतन, प्रभा. (2007). *बाजार के बीच बाजार के खिलाफ*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन.

Ethnobotanical Profiling and Nutraceutical Potential of Indigenous Green Foliage Resources among Tribal Communities of Jharkhand, India

Ladly Rani[*]
ladlyrani@gmail.com

Abstract

This reviews explores ethnobotanical diversity and nutraceutical relevance of indigenous green foliage resources utilized by tribal communities in Jharkhand, India. The Chotanagpur plateau people have abundant traditional knowledge regarding the identification, utilization, and therapeutic applications of wild edible greens. The plant resources represent important components of dietary intake and primary healthcare systems. This article summarizes previous literature on botanical diversity, phytochemical composition, and pharmacological properties of these resources. Emphasis is placed on their role in addressing micronutrient deficiencies, chronic diseases, and immune modulation. The review underscores the need for conservation, scientific validation, and integration of these traditional resources into modern nutraceutical frameworks. Such integration may contribute significantly to food security, sustainable healthcare, and biodiversity preservation.

Keywords

Ethnobotany; Wild edible greens; Nutraceuticals; Tribal knowledge; Jharkhand; Phytochemicals; Functional foods

Introduction

Ethnobotany is a cross-disciplinary field that addresses the relationship between indigenous communities and plants and particularly about traditional knowledge systems of food, healthcare and environment (1,2). In emerging markets in developing parts of the world for instance in India, tribal people depend on local flora (most notably indigenous green leaf resources) to meet their nutritional and medicinal needs (3). The Chotanagpur Plateau, which includes Jharkhand state, is a place of great ethnic diversity and historically derived food sources for the Santhal people, the Oraon people, and the Mundas (4). Through empirical observation evidence and intergenerational transmission of knowledge, these communities have cultivated a complex, sophisticated knowledge of plant-rich diets (5). Indigenous green leaf resources are an important source of micronutrients such as iron, calcium, and vitamins and essential for fighting malnutrition and the associated diseases (6,7). Moreover, such plant resources show considerable nutritional potential for nutrition

[*] **Ram Lakhan Singh Yadav College, Ranchi University, Ranchi**

with bioactive compounds like phenolics, flavonoids, alkaloids and terpenoids with antioxidant, anti-inflammatory and immunomodulatory properties (8,9). Such native resources, rich in potential, are nevertheless often underutilized and inadequately recorded in modern nutritional and pharmacological research (10). Thus, this review seeks to present a broad ethnobotanical profiling of the indigenous foliage sources with environmental, nutraceutical and therapeutic attributes, as determined by this review, and an objective to investigate nutraceutical and therapeutic value provided by the traditional green leaves resources of Jharkhand tribal communities.

Area of Study and Tribal Situations. Jharkhand, located in the Chotanagpur Plateau (approximately 23°20′N latitude and 85°20′E longitude) is one of India's richest mineral and forest regions (11). It is home to a variety of tribal people including Santhal, Oraon, Munda and Ho, who together make up a substantial section of the population (12).

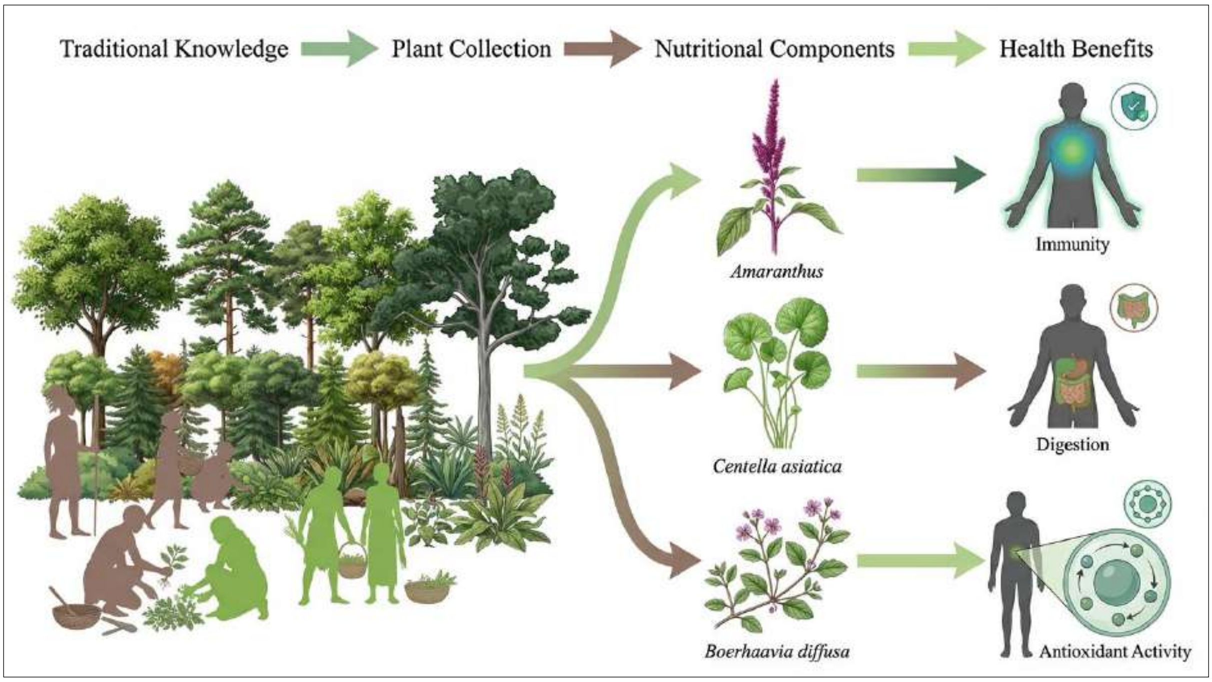

Figure 1: Conceptual framework illustrating the ethnobotanical utilization and nutraceutical significance of indigenous green foliage resources in tribal communities of Jharkhand.

Environmental landscape

The ecological setting of Jharkhand includes tropical deciduous forests, lateritic sediments, and varied agro-climatic conditions which support a broad range of wild edible plant species (13). So much of the income of the indigenous people has been directly related to their forest ecosystems; food systems are based on agriculture, hunting, gathering and seasonal foraging (14). Traditional lifestyles focus on the use of the traditional green foliage resources; they are generally sag, harvested from the forest, agricultural field, swamps, and wasteland (15). Such plant resources are not only the primary dietary staples but also the main sources of pharmaceuticals for gastrointestinal disorders, respiratory tract infections, skin diseases or metabolic diseases (16). The ethnomedicinal

experience of these resources is mostly undocumented and oral, and is thus potential prey for decimation by urbanization, fire, deforestation or by dietary alteration (17). Accordingly, data-driven and scientifically sound documentation of these ancestral practices is necessary to safeguard and incorporate them into modern healthcare practices.

Ethnobotanical Diversity of Indigenous Green Foliage Resources

The Jharkhand native eco-trees vary on ecological level across flora in Jharkhand and the ethnobotanical diversity among indigenous green foliage resources, a rich assemblage of herbaceous; shrub; tree and creeper species are adapted across ecological niches. These plant materials are abundant in wasteland, wetland, forest and agriculture indicating significant ecological plasticity and resistance (19). Among 33 plant species classified as several branches like Amaranthaceae, Apiaceae, Caesalpiniaceae, Euphorbiaceae, and Polygonaceae, several widely used green foliage resources by tribal communities are reported (20). These species have diverse growth schemes and are used as ethnomedically purifying plant, anti-inflammatory plant, digestive regulator and pathogen therapy (21). These plant species are described ethnobotanically and their details are summarised in Table 1.

Table 1: Ethnobotanical Profile of Indigenous Green Foliage Resources Used by Tribal Communities of Jharkhand

S.No	Botanical Name	Family	Habit	Habitat	Ethnomedicinal Use	Ref. No.
1	*Amaranthus spinosus* L.	Amaranthaceae	Herb	WP	Blood purifier, piles, colic	20
2	*Achyranthes aspera* L.	Amaranthaceae	Herb	WP	Cough, laxative, eye disorders	20
3	*Alternanthera sessilis* L.	Amaranthaceae	Herb	WL	Eye diseases, fracture, malaria	20
4	*Alternanthera philoxeroides* (Mart.) Griseb.	Amaranthaceae	Herb	WL	Urinary disorders	20
5	*Celosia argentea* L.	Amaranthaceae	Herb	WF	Blood purifier, dysentery	20
6	*Centella asiatica* (L.) Urban	Apiaceae	Herb	WL	Leprosy, memory enhancer, cooling	20
7	*Begonia picta* Sm.	Begoniaceae	Herb	WL	Ulcer, dysentery, colic	20
8	*Cordia dichotoma* Forst.f.	Boraginaceae	Tree	F	Jaundice, cough, ulcer	20
9	*Bauhinia purpurea* L.	Caesalpiniaceae	Tree	F	Swelling, pain relief	20

10	*Bauhinia retusa* Roxb.	Caesalpiniaceae	Tree	F	Sores	20
11	*Cassia occidentalis* L.	Caesalpiniaceae	Herb	WP	Gastric, cough, piles	20
12	*Cassia tora* L.	Caesalpiniaceae	Herb	WP	Jaundice, night blindness	20
13	*Cleome monophylla* L.	Capparidaceae	Herb	WP	Anti-bilious agent	20
14	*Cleome gynandra* L.	Capparidaceae	Herb	WP	Ear problems, stiffness	20
15	*Cleome viscosa* L.	Capparidaceae	Herb	WP	Boils, earache	20
16	*Commelina benghalensis* L.	Commelinaceae	Herb	WP	Laxative, wound healing	20
17	*Ipomoea aquatica* Forsk.	Convolvulaceae	Creeper	WL/ST	Digestive, pot herb	20
18	*Antidesma diandrum* Roxb.	Euphorbiaceae	Shrub	ST	Blood dysentery, muscle pain	20
19	*Euphorbia hirta* L.	Euphorbiaceae	Herb	WP/WF	Asthma, cough, dysentery	20
20	*Ficus geniculata* Kurz	Moraceae	Tree	F	Dysentery, colic	20
21	*Ficus infectoria* Roxb.	Moraceae	Tree	F	Dysentery	20
22	*Boerhaavia diffusa* L.	Nyctaginaceae	Creeper	WP	Jaundice, oedema, BP control	20
23	*Oxalis corniculata* L.	Oxalidaceae	Herb	WP	Appetizer, vitamin deficiency	20
24	*Polygonum barbatum* L.	Polygonaceae	Herb	WL	Piles	20
25	*Polygonum glabrum* Willd.	Polygonaceae	Herb	ST	Anthelmintic, fever	20
26	*Polygonum plebeium* R.Br.	Polygonaceae	Herb	WP	Cough, gastric issues	20
27	*Rumex vesicarius* L.	Polygonaceae	Herb	WP	Laxative	20
28	*Portulaca oleracea* L.	Portulacaceae	Herb	WP	Fever, blood purifier	20
29	*Portulaca quadrifida* L.	Portulacaceae	Herb	WP	Burns, ulcers	20
30	*Vangueria spinosa* Roxb.	Rubiaceae	Shrub	F	Dysentery	20

31	*Cissus adnata* Roxb.	Vitaceae	Climber	F	Diuretic, piles	20
32	*Marsilea minuta* L.	Marsileaceae	Herb	WL	Fever, eye disorders	20
33	*Ophioglossum reticulatum* L.	Ophioglossaceae	Herb	WL	Boils, hair tonic	20

The habitat abbreviations used in the table are defined as follows: WP refers to waste places, indicating areas with minimal management where plants grow naturally; WL denotes wetland habitats characterized by high moisture or waterlogged conditions; WF represents weed fields, typically agricultural lands where plants grow as weeds alongside crops; ST indicates streamside environments associated with water channels or riverbanks; and F refers to forest habitats, encompassing natural wooded ecosystems where these plant species are commonly found.

Nutritional composition and phytochemical profile of indigenous vegetation resource

Green vegetation resources possess a deep reservoir of important macronutrients and micronutrients and are essential to maintaining physiological homeostasis as well as metabolic functions. Such plant-based resources are particularly pertinent to nutritionally vulnerable populations owing to their high protein composition, dietary fiber, and low lipid profile and hence, are suitable for diverse nutritional needs (22). Proteins obtained from green foliage have important functions in enzymatic modulation, cellular repair and immunity function, and dietary fiber contributes to gut health, glycemic control and lipid metabolism (23). Micronutrient profiling demonstrates that these plants are rich in iron, calcium, and magnesium, as well as vitamins A, C and E. A source of high-iron species such as Amaranthus spp. and Boerhaavia diffusa are known to reduce anemia; calcium plays roles in bone mineralization and neuromuscular function, and carotenoids in these plants have been found potent antioxidants that reduce oxidative stress and the risk of chronic diseases (25). At cellular level, they also contain a diverse array of bioactive substances such as phenolics, flavonoids, alkaloids, tannins, and terpenoids. These compounds contain a high degree of antioxidant activity with free radical scavenging and modulation of redox signaling (26). In particular, flavonoids have been demonstrated to disrupt lipid peroxidation and increase natural antioxidant enzyme activity (27). The antioxidant activities of these plants are related to their dietary value; as consumption of this plant reduces non-communicable disease (NCD), including cardiovascular disease, diabetes and cancer. Thus, indigenous green leaf resources are a synergistic mixture of nutrients and drugs, which reinforce their role as functional components of diets (28). Nutraceutical and Functional Food Prospects. Nutraceuticals are included as food-derived bioactive materials which confer favorable health benefits other than nutritional value such as disease prevention or therapy. The bioactive plant components and micronutrients present in traditional green leaf plant resources of Indian native sources as potential nutricaments may be an emerging alternative or ingredient as they consist of a high dosage of bioactive phytochemicals (29). Among the most remarkable properties of these plant resources is immune modulation. Polyphenols and flavonoids are among bioactive compounds that increase immune responses by regulating cytokine production, augmenting lymphocyte proliferation, and alleviating inflammatory mediators (30). These immunomodulatory effects will be of further interest in relation to disease prevention and

immune resilience. These plants are also essential for preventing micronutrient deficiencies among populations of rural/tribal origin, for whom access to diversified diets is limited. Their inclusion in daily diets could significantly decrease the incidence of anemia, vitamin deficiency, and mineral imbalance (31). The anti-inflammatory capacity and antioxidant activity of these plants also contributes to their value as functional foods. Phytochemicals act on major cell-relevant signaling pathways, e.g., NF-κB and MAPK, that contribute to attenuating inflammation and oxidative stress at cellular level (32). These mechanisms help prevent chronic diseases and enhance overall health. These plant resources have tremendous industrial promise as functional food, dietary supplements, and nutraceutical applications. Integrating them into contemporary food systems may be cost-effective and sustainable responses to the global nutrition problems they represent (33). Indigenous green foliage resources have been used therapeutically at tribal level in tribal medicine systems for the treatment and prevention of various diseases. Ethnopharmacological evidence supports their effectiveness for management of gastrointestinal conditions including dysentery, diarrhoea, and indigestion, as well as systemic diseases including jaundice and respiratory infections and dermatological disorders (34). For the therapeutic purposes of these plants, the pharmacological activities of these plants are intimately associated with their phytochemical composition. Antimicrobial properties, anti-inflammatory effects, and activities of tannins: Alkaloids, flavonoids as well as tannins promote wound healing and astringent activity (35) have been examined. Plants such as Centella asiatica and Euphorbia hirta have been studied extensively in its pharmacological activities such as neuroprotective, anti-asthmatic, and antimicrobial (36). More modern pharmacological studies have supported these ancient assertions and have seen plant extracts work not only in vitro but also in vivo. As an illustration, the inclusion of bioactive compounds with therapeutic effects has been confirmed by antioxidant assays and antimicrobial studies (37). As ethnopharmacology holds a crucial place in drug development and health innovation (38), the infusion of traditional knowledge with modern scientific verification represents a very strong scaffolding for the construction of drug candidates generated from plant roots.

Role in Food Security and Sustainable Nutrition

Indigenous green leaf resources are a significant part of food security and sustainable nutrition, which is of paramount importance in rural and remote areas with fewer resources. These plants add diversity to diet as they have nutrients commonly deficient in staple diets (39). Wild edible greens act as supplemental food sources in droughts and crop failures, preventing the breakdown of diet and promoting nutrition endurance. The ability of wild edible greens to thrive in diverse ecologies, including marginal areas and degraded soils, highlights their adaptability and sustainability (40). Also, these plants need minimal agriculture inputs themselves making them eco-friendly and economically attractive. Agro-ecology and biodiversity conservation-based principles of their cultivation & utilization (41), also contribute to the sustainable food systems. Sustainable harvesting, with roots in the traditional worldviews of farmers, guarantees the conservation of the plants they will need and maintains ecological harmony. These actions are important because they help to protect biodiversity and the living conditions of the tribes (42).

Challenges and Conservation Actions

Indigenous green foliage resources have huge potential but have come under attack from traditional knowledge loss, habitat loss, ecological deterioration and dietary changes. Traditional plant-based diets and ethnobotanical knowledge erosion is occurring with the rapid urbanization and modernization (43). Deforestation, land use change, and climate change threaten the availability of these plant resources and are leading to biodiversity loss. Such species loss could significantly impact traditional food security and healthcare methods (44). These needs require a wide range of conservation tools, including, but not limited to, in situ and ex situ conservation, documentation of traditional knowledge and community-based resources. The promotion of such sustainable access should form policy interventions that integrate such resources into national nutrition and healthcare programs (45).

Future Perspectives

The role of indigenous green foliage resources in modern healthcare and nutrition systems as a challenge will only be explored in the future. Owing to developments in molecular biology and phytochemistry one will be able to probe the mechanism behind their therapeutic actions and identify new bioactive compounds (46). The nutraceutical products based on these plants possess substantial commercial and health-care potential. Their successful commercialization will require standardization, quality and clinical validation to achieve their full potential (47). The worldwide promotion of tribal knowledge can thus also contribute to the recognition and preservation of cultural heritage, while at once developing sustainable solutions for global nutrition challenges (48).

Conclusion

The source of indigenous green foliage, which is used as a food source in tribal communities of Jharkhand, is rich in nutrients and has great medical value. Nutrients such as these help build the body's immunity against illness, and also offer bioactive compounds that support a generally healthy life. In resource-constrained environments, these plants also contribute significantly to food security and sustainable nutrition. The loss of traditional knowledge and biodiversity threatens their utilization. Accordingly, appropriate documentation, preservation, and scientific validation are required. Incorporating such assets into contemporary food and healthcare systems can both deliver better nutritional benefits and preserve rich ethnobotanical heritage.

References

1. Cotton, C. M. (1996). Ethnobotany: Principles and applications. John Wiley & Sons.
2. Martin, G. J. (1995). Ethnobotany: A methods manual. Chapman & Hall. https://doi.org/10.1007/978-1-4615-2496-0

3. Jain, S. K. (1991). Dictionary of Indian folk medicine and ethnobotany. Deep Publications.
4. Gupta, S. P. (1974). Tribes of Chotanagpur Plateau: An ethno-nutritional and pharmacological cross-section. Bihar Tribal Welfare Research Institute.
5. Posey, D. A. (1999). Cultural and spiritual values of biodiversity. United Nations Environment Programme (UNEP).
6. Grivetti, L. E., & Ogle, B. M. (2000). Value of traditional foods in meeting macro- and micronutrient needs: The wild plant connection. The Journal of Nutrition, 130(7), 1837S–1841S. https://doi.org/10.1093/jn/130.7.1837S
7. Food and Agriculture Organization. (2013). Indigenous peoples' food systems and well-being: Interventions and policies for healthy communities. FAO.
8. Liu, R. H. (2004). Potential synergy of phytochemicals in cancer prevention: Mechanism of action. The American Journal of Clinical Nutrition, 78(3), 517S–520S. https://doi.org/10.1093/ajcn/78.3.517S
9. Scalbert, A., Johnson, I. T., & Saltmarsh, M. (2005). Polyphenols: Antioxidants and beyond. The American Journal of Clinical Nutrition, 81(1), 215S–217S. https://doi.org/10.1093/ajcn/81.1.215S
10. Kuhnlein, H. V., Erasmus, B., & Spigelski, D. (2009). Indigenous peoples' food systems: The many dimensions of culture, diversity and environment for nutrition and health. FAO.
11. Singh, J. S. (2002). The biodiversity crisis: A multifaceted review. Current Science, 82(6), 638–647.
12. Office of the Registrar General & Census Commissioner, India. (2011). Census of India 2011. Government of India.
13. Champion, H. G., & Seth, S. K. (1968). A revised survey of the forest types of India. Government of India Press.
14. Gadgil, M., Berkes, F., & Folke, C. (1993). Indigenous knowledge for biodiversity conservation. Ambio, 22(2–3), 151–156.
15. Sinha, R. K. (1996). Tribal food habits and nutritional aspects. Indian Journal of Nutrition, 13(2), 45–52.
16. Jain, S. K., & Rao, R. R. (1977). A handbook of field and herbarium methods. Today & Tomorrow's Printers.
17. Hamilton, A. C. (2004). Medicinal plants, conservation and livelihoods. Biodiversity and Conservation, 13, 1477–1517. https://doi.org/10.1023/B:BIOC.0000021333.23413.42
18. Kala, C. P. (2005). Indigenous uses, population density, and conservation of threatened medicinal plants in protected areas of the Indian Himalayas. Journal of Ethnobiology and Ethnomedicine, 1, 10. https://doi.org/10.1186/1746-4269-1-10
19. Haines, H. H. (1921–1925). The botany of Bihar and Orissa (Vols. 1–4). Adlard & Son.

20. Kumari, B., & Kumar, S. (2001). A checklist of some leafy vegetables used by tribals in and around Ranchi, Jharkhand. Zoos' Print Journal, 16(3), 442–444.
21. Farnsworth, N. R. (1990). The role of ethnopharmacology in drug development. In D. J. Chadwick & J. Marsh (Eds.), Bioactive compounds from plants (pp. 2–12). John Wiley & Sons.
22. Gupta, S., Lakshmi, A. J., & Prakash, J. (2005). Nutritional and antioxidant properties of green leafy vegetables. Food Chemistry, 90(1–2), 125–131. https://doi.org/10.1016/j.foodchem.2004.03.031
23. Slavin, J. (2013). Fiber and prebiotics: Mechanisms and health benefits. Nutrients, 5(4), 1417–1435. https://doi.org/10.3390/nu5041417
24. Uusiku, N. P., Oelofse, A., Duodu, K. G., Bester, M. J., & Faber, M. (2010). Nutritional value of leafy vegetables. Journal of Food Composition and Analysis, 23(6), 499–509. https://doi.org/10.1016/j.jfca.2010.05.002
25. Podsędek, A. (2007). Natural antioxidants and antioxidant capacity of vegetables. Food Chemistry, 105(3), 940–949. https://doi.org/10.1016/j.foodchem.2007.04.038
26. Dai, J., & Mumper, R. J. (2010). Plant phenolics: Extraction and analysis. Molecules, 15(10), 7313–7352. https://doi.org/10.3390/molecules15107313
27. Pietta, P. G. (2000). Flavonoids as antioxidants. Journal of Natural Products, 63(7), 1035–1042. https://doi.org/10.1021/np9904509
28. Liu, R. H. (2004). Health benefits of fruits and vegetables. American Journal of Clinical Nutrition, 78(3), 517S–520S. https://doi.org/10.1093/ajcn/78.3.517S
29. Kalra, E. K. (2003). Nutraceutical—Definition and introduction. AAPS PharmSci, 5(3), E25. https://doi.org/10.1208/ps050325
30. Del Rio, D., Rodriguez-Mateos, A., Spencer, J. P. E., Tognolini, M., Borges, G., & Crozier, A. (2013). Dietary polyphenols and health. Antioxidants & Redox Signaling, 18(14), 1818–1892. https://doi.org/10.1089/ars.2012.4581
31. FAO. (2013). Edible insects and food security. Food Security, 5, 283–295. https://doi.org/10.1007/s12571-013-0253-5
32. Pan, M. H., Lai, C. S., & Ho, C. T. (2010). Anti-inflammatory activity of natural dietary compounds. Food & Function, 1(1), 15–31. https://doi.org/10.1039/C0FO00103A
33. Granato, D., et al. (2010). Functional foods and non-dairy probiotic products. Food Research International, 43(3), 660–675. https://doi.org/10.1016/j.foodres.2009.10.020
34. Heinrich, M., et al. (2006). Ethnopharmacology and drug discovery. Journal of Ethnopharmacology, 107(2), 157–160. https://doi.org/10.1016/j.jep.2006.05.061
35. Cowan, M. M. (1999). Plant products as antimicrobial agents. Clinical Microbiology Reviews, 12(4), 564–582. https://doi.org/10.1128/CMR.12.4.564

36. Orhan, I. (2012). Centella asiatica pharmacology. Evidence-Based Complementary Medicine, 2012, 946259. https://doi.org/10.1155/2012/946259
37. Sarker, S. D., & Nahar, L. (2012). Natural medicines. Methods in Molecular Biology, 864, 1–25. https://doi.org/10.1007/978-1-61779-624-1_1
38. Fabricant, D. S., & Farnsworth, N. R. (2001). Value of plants in drug discovery. Environmental Health Perspectives, 109(1), 69–75. https://doi.org/10.1289/ehp.01109s169
39. Bharucha, Z., & Pretty, J. (2010). Role of wild foods in food security. Philosophical Transactions B, 365, 2913–2926. https://doi.org/10.1098/rstb.2010.0123
40. Termote, C., et al. (2011). Wild edible plants and food security. Food and Nutrition Bulletin, 32(3), 200–208. https://doi.org/10.1177/156482651103200305
41. Altieri, M. A. (2004). Agroecology principles. Agriculture, Ecosystems & Environment, 100(1), 19–25. https://doi.org/10.1016/S0167-8809(03)00153-1
42. Berkes, F. (2009). Community conserved areas. Journal of Environmental Management, 90(5), 1692–1702. https://doi.org/10.1016/j.jenvman.2008.12.001
43. Reyes-García, V., et al. (2013). Traditional knowledge loss. Current Biology, 23(12), 1097–1101. https://doi.org/10.1016/j.cub.2013.05.007
44. Bellard, C., et al. (2012). Impacts of climate change on biodiversity. Ecology Letters, 15(4), 365–377. https://doi.org/10.1111/j.1461-0248.2011.01736.x
45. Schippmann, U., et al. (2002). Medicinal plant conservation. Biodiversity and Conservation, 11, 185–195. https://doi.org/10.1023/A:1013820429859
46. Atanasov, A. G., et al. (2015). Discovery of natural products. Biotechnology Advances, 33(8), 1582–1614. https://doi.org/10.1016/j.biotechadv.2015.08.001
47. WHO. (2013). Traditional medicine strategy. World Health Organization. https://doi.org/10.1016/S0140-6736(13)60249-1

NOTES FOR AUTHORS

PADCHINHA: Multidisciplinary Peer Reviewed & Refereed Journal

1. Submissions

Authors should send all submissions and resubmissions to padchinhahindi@gmail.com or gandhikhadi@gmail.com some articles are dealt with by the editor immediately, but most are read by outside referees. For submissions that are sent to referees, we try to complete the evaluation process within one month. As a general rule, Padchinha operates a double-blind peer review process in which the reviewer's name is withheld from the author and the author's name is withheld from the reviewer. Reviewers may at their own discretion opt to reveal their name to the author in their review, but our standard policy is for both identities to remain concealed.

Absolute technical requirements in the first round are: ample line spacing throughout (1.5), an abstract, adequate documentation using the author-date citation system and an alphabetical reference list and a word count on the front page (include all elements in the word count). Regular articles are restricted to an absolute maximum of 8,000 words, including all elements (title page, abstract, notes, references, tables, biographical statement, etc.).

2. Types of articles

In addition to Regular Articles, Padchinha publishes the Viewpoint column with research-based policy articles, Review Essays, Book Review and Special Data Features.

3. The manuscript

The final version of the manuscript should contain, in this order:
(a) title page with name(s) of the author(s), affiliation and Email
(b) Abstract
(c) Main text
(d) List of references
(e) Biographical statement(s)
(f) Tables and figures in separate documents
(g) Notes (either footnotes or endnotes are acceptable)

Authors must check the final version of their manuscripts against these notes before sending it to us.

The text should be left justified, with an ample left margin. Avoid hyphenation. Throughout the manuscripts, set line spacing to 1.5.

The final manuscript should be submitted in MS Word for Windows.

4. Language

Padchinha is a Bilingual Journal, i.e. English and हिंदी. The main objective of an academic journal is to communicate clearly with an international audience.

Elegance in style is a secondary aim: the basic criterion should be clarity of expression. We allow UK as well as US spelling, as long as there is consistency within the article. You are welcome to indicate on the front page whether you prefer UK or US spelling.

5. The abstract

The abstract should be in the range of 200-300 words. For very short articles, a shorter abstract may suffice. The abstract is an important part of the article. It should summarize the actual content of the article, rather than merely relate what subject the article deals with. It is more important to state an interesting finding than to detail the kind of data used: instead of 'the hypothesis was tested', the outcome of the test should be stated. Abstracts should be written

in the present tense and in the third person (This article deals with...) or passive (... is discussed and rejected). Please consider carefully what terms to include in order increasing the visibility of the abstract in electronic searches.

6. Title and headings

The main title of the article should appear at the top of pg. 1, followed by the author's name an institutional affiliation. The title should be short, but informative. All sections of the article (including the introduction) should have principal subheads. The sections are not numbered. This makes it all the more important to distinguish between levels of subheads in the manuscripts – preferably by typographical means.

7. Notes

Notes should be used only where substantive information is conveyed to the reader. Mere literature references should normally not necessitate separate notes; see the section on references below. Notes are numbered with Arabic numerals. Authors should insert notes by using the footnote/endnote function in MS Word.

8. Tables

Each Table should be self-explanatory as far as possible. The heading should be fairly brief, but additional explanatory material may be added in notes which will appear immediately below the Table. Such notes should be clearly set off from the rest of the text. The table should be numbered with a Roman numeral, and printed on a separate page.

9. Figures

The same comments apply, except that Figures are numbered with Arabic numerals. Figure headings are also placed below the Figure. Example: Figure 1.

10. References

References should be in a separate alphabetical list; they should not be incorporated in the notes. Use the APA form of reference.

11. Biographical statement

The biosketch in Padchinha appears immediately after the references. It should be brief and include year of birth, highest academic degree, year achieved, where obtained, position and current institutional affiliation. In addition authors may indicate their present main research interest or recent (co-)authored or edited books as well as other institutional affiliations which have occupied a major portion of their professional lives. But we are not asking for a complete CV.

12. Proofs and reprints

Author's proofs will be e-mailed directly from the publishers, in pdf format. If the article is co-authored, the proofs will normally be sent to the author who submitted the manuscripts. (Corresponding author). If the e-mail address of the corresponding author is likely to change within the next 6–9 months, it is in the author's own interest (as well as ours) to inform us: editor's queries, proofs and pdf reprints will be sent to this e-mail address. All authors (corresponding authors and their co-authors) will receive one PDF copy of their article by email.

13. Copyright

The responsibility for not violating copyright in the quotations of a published article rests with the author(s). It is not necessary to obtain permission for a brief quote from an academic article or book. However, with a long quote or a Figure or a Table, written permission must be obtained. The author must consult the original source to find out whether the copyright is held by the author, the journal or the publisher, and contact the appropriate person or institution. In the event that reprinting requires a fee, we must have written confirmation that the author is prepared to cover the expense. With literary quotations, conditions are much stricter. Even a single verse from a poem may require permission.